



15. जो बच्चों की आवश्यकताएँ हैं, वही हमारी भी हैं

जो लोग मानते हैं कि वे बच्चों को समझते हैं और उनके पक्ष में हैं, वे अक्सर कुछ इस तरह बोलते हैं जिससे मैं स्वयं भी एक समय पर सहमत था। पर अब मुझे वह तरीका भ्रमित, भावनात्मक और भ्रान्त करने वाला लगता है। वे कहते हैं कि बच्चों को “बच्चा बने रहने की अनुमति” की ज़रूरत है या “बच्चा बने रहने की आज़ादी” की ज़रूरत है या “बाल्यावस्था को अनुभव करने” की आवश्यकता है। वे कहते हैं कि बच्चों को “विकसित होने का समय” चाहिए होता है या उन्हें “बच्चों की दुनिया” में जीना चाहिए ताकि वे साधिकार एक मानव के रूप में स्वयं को अनुभूत कर सकें। वे ऐसे लोगों की बात करते हैं जो “बचपन को नष्ट” करने की कोशिश करते हैं या “बच्चों से उनका बचपन” छीन लेते हैं।

इन शब्दों और विचारों में जो भूल है वह यह कि इनसे बच्चों या बाल्यावस्था का जो निहितार्थ निकलता है वह सही नहीं है। और जितनी सच्चाई इन शब्दों या विचारों में है, वयस्कों पर भी वह उतनी ही लागू होती है जितनी बच्चों पर। जिस हद तक बच्चों को उस सब की वास्तव में आवश्यकता है जिसका संकेत ये शब्द देते हैं, उस हद तक हम सबको भी इसकी ज़रूरत है। चाहे हम युवा हों या बड़े हों, सभी को यह दरकार है। जिस हद तक हमारा समाज या संस्कृति हम वयस्कों को उन आवश्यकताओं को उपलब्ध करवाने से मुकरता है, उसी हद तक बच्चों की आवश्यकताएँ भी नकारी जाती हैं। जब हम बच्चों की आवश्यकताओं की और उनके गुणों की बात कुछ इस तरह से करते हैं कि वे केवल बच्चों पर ही लागू हों, उस वक्त हम उन्हें तुच्छ बना डालते हैं। उन्हें अमान्य बना डालते हैं। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि तब हम यह सुनिश्चित कर डालते हैं कि उनकी आपूर्ति कभी होगी भी नहीं। क्योंकि तमाम भावनात्मक गुहारों या उपदेशों के बावजूद कोई भी समाज अपने बच्चों व युवावर्ग को उससे बेहतर जीवन स्तर नहीं उपलब्ध करवा सकता जो वह अपने वयस्कों को उपलब्ध करवाता है। अगर हम सोचते हैं कि जिस चीज़ का अभाव हम वयस्कों को सालता है उसे बच्चों को उपलब्ध करवाने का कोई रास्ता निकाला जा सकता है तो हम खुद को ही बहला रहे हैं।

“बच्चों की दुनिया”, “बाल्यावस्था को अनुभूत करना”, “बच्चा बने रहने की

अनुमति पाना”, और ऐसे ही तमाम दूसरे जुमले मानो यह संकेत देते हैं कि बाल्यावस्था वह समय या अनुभव है जो हमारे शेष जीवन से बिलकुल भिन्न है, और वह हमारे जीवन का श्रेष्ठ हिस्सा है या होना चाहिए। पर ऐसा है नहीं। और यह बात बच्चों से बेहतर कोई नहीं जानता। *बच्चे बड़े होना चाहते हैं*। और जिस समय वे बढ़ रहे होते हैं वे अपने आसपास कुछ समय के लिए ऐसे वयस्क चाहते हैं जिन्हें बड़े होने की अवस्था पसन्द है, जो बड़े हो जाने को एक खोज अभियान या साहसिक अभियान मानते हैं, न कि वह प्रक्रिया जिसमें किसी जन्नत के बाग (गार्डन ऑफ ईडन) से भगाया जाता हो। वे नहीं चाहते कि वयस्क उनसे कहें, जैसा वैकल्पिक शिक्षा अभियान से जुड़े लोग अक्सर कहते सुने जाते हैं, कि “ये तुम्हारे जीवन के सर्वश्रेष्ठ दिन हैं। हम इन्हें तुम्हारे लिए बचाएँगे। दुष्ट दुनिया को दूर रखेंगे, ताकि वह इन्हें बिगाड़ न सके।” इससे अधिक हतोत्साहित करने वाली बात भला क्या होगी? क्योंकि बड़े तो वे होंगे ही, चाहे वे बड़ा होना चाहें या न चाहें। ज़ाहिर है वे यह भी चाहेंगे कि बड़ी उम्मीद से भविष्य को देखा जाए। अपने बड़ों से वे दरअसल यह सुनना पसन्द करेंगे कि आगे चलकर जीवन बेहतर होगा। वे ऐसा सन्देश चाहेंगे जैसा मेरे एक मित्र ने मेरे तीसवें जन्मदिवस पर मुझे भेजा था, “सर्वश्रेष्ठ तो अभी आना बाकी है।” और वह सही था। मेरा बेहतर समय उसके बाद ही प्रारम्भ हुआ। और मुझे अब भी यही लगता है।

अठारह-उन्नीस वर्ष के किशोर या अपने जीवन के तीसरे दशक के शुरुआती दौर के युवक-युवतियों ने मुझे अक्सर बताया है कि स्कूल छोड़ने के बाद वे “बच्चों के साथ” काम करना चाहते हैं। अगर मैं उनसे जानना चाहूँ कि ऐसा क्यों, तो वे कुछ यूँ कहते हैं, “क्योंकि बच्चे इतने ईमानदार, इतने खुले, इतने स्नेही होते हैं। क्योंकि उनके साथ आपको मुखौटे नहीं लगाने पड़ते। आपको झूठ बोलने, कपटी बनने या ढोंग करने की ज़रूरत नहीं होती। आप अपने स्व को, अपनी भावनाओं को दर्शा सकते हैं।” संक्षेप में, आप स्वयं बच्चा बने रह सकते हैं। किन्तु बच्चा होने का यह मतलब नहीं होता है, दूसरे बच्चों के बीच भी नहीं, और कई बच्चे ऐसे बिलकुल नहीं होते। कुछ पाँच साल के बच्चे, कई बार तो उनसे भी छोटे बच्चे, वयस्कों की तरह जकड़े हुए, सतर्क, कपटी, हिसाबी, भावनाएँ जताने से डरने वाले, जोड़-तोड़ बैठाने वाले और चालबाज़ होते हैं। उनके द्वारा किया गया सब कुछ, हँसने-मुस्कुराने समेत, किसी तरह के प्रभाव या पुरस्कार के लिए होता है। पहली कक्षा, यहाँ तक कि शिशुशाला तक में अन्य मानव समाजों की ही तरह अपनी एक आन्तरिक व्यवस्था होती है। इसमें लोकप्रिय और अलोकप्रिय गुट होते हैं। अपनी दुश्चिन्ताएँ होती हैं। यहाँ भी निपट अकेले लोग होते हैं जो स्नेह और प्यार के भूखे हों और लगातार यह कोशिश करते हों कि दूसरे उन्हें पसन्द करें। या जो यह समझना चाहते

हों कि आखिर लोग उन्हें पसन्द क्यों नहीं करते। बच्चे चाहे उम्र में बेहद छोटे ही क्यों न हों, उनका सामाजिक जीवन वयस्कों के जीवन से खास भिन्न नहीं होता। “बच्चों की दुनिया” कोई स्वर्ग नहीं है।

बावजूद इसके, बच्चों का साथ बड़ा रोचक, पुनर्जीवित करने वाला तथा ताज़गी भरा होता है। लेकिन साथ ही थकाने वाला भी होता है। यह समझ पाना कठिन नहीं है कि क्यों युवा अपने स्कूली अनुभव और अपने आसपास की दुनिया के बारे में जान लेने के बाद, मोह भंग की स्थिति में बाल्यावस्था के आशा व स्वास्थ्य रूपी फौवारे से जी भरकर पीना चाहते हैं। पर अगर यह सच है, तो दरअसल उन्हें शुल्क उन बच्चों को देना चाहिए जिनके साथ वे “काम करते” हैं न कि इसके उलट होना चाहिए। ऐसा मैं बड़ों को कभी-कभार कहता भी हूँ। मैंने कई बार इन युवक-युवतियों से जानना चाहा है कि वे वास्तव में क्या कर सकते हैं। बाँटने के लिए उनके पास कैसा ज्ञान या कौशल है, जो इतना रोचक और उत्साहवर्धक हो कि बच्चे खुद-ब-खुद उनके पास चले आएँ। कई बार इस सवाल का एक बढ़िया उत्तर उनके पास होता है। पर अक्सर कोई जवाब नहीं होता। “बच्चों के साथ काम करने” की इच्छा रखने वाले युवक-युवती, अधिकांश परम्परागत स्कूली शिक्षकों की तरह, समाज पर निर्भर होते हैं कि समाज उन्हें काम करने के लिए बन्दी श्रोताओं के रूप में बच्चे उपलब्ध करवाए।

“बच्चा बने रह पाने की आज़ादी” वह जुमला है जिसका अक्सर उपयोग होता है। इस जुमले की ध्वनि कुछ ऐसी है - कुछ खास काम करने पर बच्चा “बच्चा होता है” पर कुछ दूसरी तरह के काम करने पर वह बच्चा नहीं रहता। दृष्टान्त में शायद यह कहना बेहतर हो कि स्थिति के अनुरूप बच्चा किसी न किसी पल ऊर्जावान, या प्रसन्न, या दुखी या नाराज़, या तन्मय, या ज़िन्दादिल, या ऊब से भरा, या भयभीत, या विद्रोही होता है। पर वह प्रत्येक दृष्टान्त में बच्चा ही रहता है। बड़े होने के मेरे निजी अनुभव में मुझे कुछ ऐसे लोग मिले और ऐसे अनुभव हुए जिन्होंने मुझे खुशी दी, आत्मविश्वास दिया और ताकत दी। जबकि दूसरे लोगों या अनुभवों से मुझे ऊब हुई। मैं चिन्तित, भयभीत भी हुआ। आज की तरह तब भी मुझे और सकारात्मक अनुभवों की इच्छा होती थी। और नकारात्मक अनुभव मैं नहीं चाहता था। पर जो कुछ भी मेरा रहा हो उसमें ऐसा कुछ नहीं था जिसे मैं “बच्चा बने रहने की आज़ादी” से जोड़ सकूँ। अपने बचपन में मैं बच्चा था। और भला हो भी क्या सकता था?

“बाल्यावस्था अनुभव करने की अनुमति” - एक स्तर पर ये शब्द सच्चे हैं, पर कहने लायक फिर भी नहीं हैं। हम किसी भी उम्र में उस उम्र के होने का अनुभव करते ही हैं। ज़ाहिर है कि इन शब्दों का उपयोग करने वाला कहना कुछ और

ही चाहता है। इन शब्दों का अर्थ होता है कि कुछ चीज़ें करने की छूट और दूसरी चीज़ें करने से बचाना, या कहें, करने की *मनाही* होना। अर्थात् वयस्क अपने स्तर पर यह तय करेंगे, और अक्सर बच्चों की राय जाने बिना ही कि कौन-सा अनुभव उनके लिए उचित है और कौन-सा नहीं। बच्चों के लिए इसका मतलब यह होगा कि हमेशा वयस्क ही यह तय करें कि उनके लिए श्रेष्ठतम क्या है। और फिर उसे वह करने दें, या करवाएँ। मुझे लगता है कि यह ठीक नहीं कि बच्चों को सिर्फ वही अनुभव उपलब्ध करवाए जाएँ जो हमें उनके लिए उचित लगे हैं। इसकी बजाए हमें बच्चों को विभिन्न अनुभव उपलब्ध करवाने चाहिए (केवल ऐसे अनुभवों को छोड़कर जो दूसरों को तकलीफ पहुँचाएँ)। और फिर उन्हें स्वयं यह तय करने देना चाहिए कि उन्हें सबसे अच्छा क्या लगता है। दूसरों के लिए भी हम ऐसा ही करते हैं।

“बच्चों को बड़े होने का समय देना।” एक तरह से ये शब्द बेमानी हैं। कोई व्यक्ति किसी दूसरे को समय कैसे दे सकता है? हम बेकार में किसी दूसरे का समय लेने या खराब करने से तो बच सकते हैं, पर यह तो समय देना नहीं होता। अगर हम चाहते हैं कि बच्चा केवल उम्र, आकार या शारीरिक शक्ति में ही नहीं बड़े बल्कि समझदारी, जागृति, दयालुता, आत्मविश्वास, कुशलता और आनन्द में भी बड़े, तो इसके लिए उसे समय की नहीं बल्कि ऐसे अनुभवों और अवसरों की ज़रूरत होगी जो इन विशेषताओं को पनपने दें। साथ ही उसे वह अधिकार भी चाहिए होगा जिनसे वह स्वयं को उन अनुभवों से बचाए या दूर रखे जो इसका उलटा करते हैं। दरअसल अधिकांश बच्चों को अपने जीवन में ऐसे प्रतिकूल अनुभव होते ही हैं - आतंक, अपमान, तिरस्कार, अनन्त दुश्चिन्ताएँ, छल, विश्वास का अभाव, विकल्पों का अभाव, धकियाए जाने का अनुभव। और एक ऐसे जीवन का अनुभव जिसमें नीरस, निरर्थक और बारम्बार दोहराए जाने वाले बोझिल कामों की भरमार हो। हम सबको इससे बच पाने के अधिकार की इतनी ज़रूरत है कि इसका अभाव हमें बीमार बनाता जा रहा है।

हमें अक्सर बताया जाता है कि किसी बच्चे को इस अहसास की भी ज़रूरत है कि वह अपने आप में एक इंसान है। यह सही है, किन्तु हममें से किसको इसकी ज़रूरत नहीं होती? फिर हमारी उम्र कुछ भी क्यों न हो। सम्भव है कि इन शब्दों का आंशिक अर्थ यह है कि बच्चों को यह नहीं लगना चाहिए कि उन्हें लगातार किन्हीं मनमाने मापदण्डों से नापा-तोला जा रहा है, या आँका जा रहा है। पर यह तो सबका अधिकार है। बाईबल की सूक्ति है, “दूसरों को मत आँक, ताकि तुझे भी न आँका जाए।” इसका अर्थ है कि दूसरों के कृत्यों को हम आँक सकते हैं, पर उन्हें करने वाले मानव को नहीं; क्योंकि मानव को पूरी तरह जाना नहीं जा सकता, नापा नहीं जा सकता। इसका अर्थ यह भी

है कि एक समूचे मानव की सम्पूर्णता और रहस्य को यूँ घटाने का अधिकार किसी को नहीं है, जैसा कि अक्सर हमारे शिक्षक, परीक्षक और मनोवैज्ञानिक करते हैं। वे हमें किसी लेबल, संख्या समूह या श्रेष्ठता के क्रम में कहीं रख देते हैं। हममें से प्रत्येक का यह अधिकार है कि हम मानें कि हम केवल वही नहीं हैं जो हमें दूसरे मानते हैं। फिर चाहे वे विशेषज्ञ ही क्यों न हों। हम केवल अमुक प्रजाति, या आकार, या रंग, या पेशे, या आय वर्ग, या पद, या आई.क्यू., या व्यक्तित्व स्वरूप भर नहीं हैं। बल्कि हमारा एक ऐसा तत्व भी है जो इससे कहीं विशाल, अज्ञेय और अधिक महत्वपूर्ण है। और यह विश्वास करना भ्रामक होगा कि हमें यह अधिकार नहीं दिए जाने के बावजूद वह किसी प्रकार बच्चों को दिया जा सकता है - कि बच्चों को सम्मान का अधिकार होगा, उन्हें अपनी अनूठी व अलंघनीय अस्मिता का अधिकार होगा, जबकि किसी दूसरे को यह अधिकार हो ही नहीं।

16. “अधिकार” शब्द के उपयोग पर

आजकल “बाल-अधिकारों” पर बहुत कुछ कहा और लिखा जा रहा है। कई लोग इस शब्द का उपयोग उस अर्थ में करते हैं जिससे हम सब सहमत हैं, और मानते हैं कि प्रत्येक को ये मिलने चाहिए - “एक अच्छे घर का अधिकार” या “अच्छी शिक्षा का अधिकार”। यानी यहाँ अधिकार शब्द का उपयोग उसी अर्थ में होता है जिस अर्थ में हम वयस्कों के अधिकारों की बात करते हैं। मैं कहता हूँ कि कानून को वह आज़ादी बच्चों को भी देनी और सुनिश्चित करनी चाहिए जो वह वयस्कों को देता है, ताकि वे विकल्पों में से स्वयं चयन करें, कुछ खास तरह के काम कर सकें और कुछ खास तरह की ज़िम्मेदारियाँ स्वीकार सकें। इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जो कोई भी बच्चों को कुछ करने के लिए प्रदत्त इन अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा, कानून उनके विरुद्ध कार्यवाही करेगा। अर्थात् जब कानून मेरे मतदान का अधिकार सुनिश्चित करता है, तो वह यह नहीं कहता है कि मुझे मत देना ही होगा। वह मुझे एक मत नहीं दे रहा होता है। बल्कि कानून केवल यह कहता है कि अगर मैं मत देने का निर्णय लूँ, तो वह उन सबके विरुद्ध कार्यवाही करेगा जो मुझे मत देने से रोकने की चेष्टा करेंगे। मुझे अधिकार प्रदान करते समय कानून यह नहीं कहता है कि मुझे क्या करना ही होगा। कानून मात्र इतना कहता है कि वह दूसरों को यह अनुमति नहीं देगा कि वे मुझे ऐसा करने से रोकें।

यह बात सुनिश्चित आय को पाने के अधिकार पर लागू नहीं होगी। क्योंकि यहाँ हम राज्य या सरकार द्वारा कुछ करने की बात कर रहे हैं। जब हम यह कहते हैं कि लोगों को एक सुनिश्चित न्यूनतम आय का अधिकार है तो इसका अर्थ होता है कि राज्य को कानूनन लोगों को यह आश्वासन देना होगा कि एक नागरिक के तौर पर उनकी कम से कम इतनी आय सुनिश्चित की जाएगी। बच्चों को यह अधिकार देने का मतलब होगा कि राज्य जो आय वयस्कों को उपलब्ध करवाए, वही बच्चों और युवाओं को भी उपलब्ध करवाई जाए।

सरकार से वह सुनिश्चित करने को कहना निरर्थक है जो न उसके पास है, न वह उपलब्ध करवा सकती है। राज्य के पास धन है, इसलिए वह यह मुहैया करवा सकता है। राज्य यह वादा भी कर सकता है कि उन लोगों के विरुद्ध कार्यवाही की जाएगी जो उसके नागरिकों को (चाहे वे बच्चे हों या बड़े) स्वेच्छा से चुनने या करने से रोकते हैं। पर सरकार प्रत्येक बच्चे को एक अच्छा घर,

एक अच्छा परिवार सुनिश्चित नहीं करवा सकती। देने के लिए उसके पास ये चीज़ें हैं ही नहीं। वह इन्हें न बना सकती है, न प्राप्त कर सकती है। अगर सरकार सबको यह आदेश देना चाहे कि हरेक को अपने बच्चे को एक अच्छा घर देना ही होगा, तो उसके सामने क्या विकल्प होंगे? सबसे पहले तो यह कौन और किस आधार पर तय करेगा कि कोई घर अच्छा है या नहीं? *लाईफ* नामक पत्रिका में एक केस का उल्लेख हुआ था। इसमें सरकार ने कुछ बच्चों को उनके ऐसे माता-पिता से ले लिया जिन्हें वे बेहद प्यार करते थे और उनके साथ रहना चाहते थे। क्योंकि किसी मनोवैज्ञानिक ने फैसला सुनाया था कि उनका आई.क्यू. का स्तर इतना कम है कि वे एक परिवार का पालन-पोषण करने योग्य नहीं हैं। जबकि माता-पिता परिवार पाल ही रहे थे। एक-दूसरे दृष्टान्त में बच्चों को उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके माता-पिता से जबरन छीन लिया गया था, क्योंकि पड़ोसियों और समुदाय को उनके माता-पिता की जीवन शैली या राजनीति नापसन्द थी। सरकार बड़े विचित्र कारणों से ऐसे निर्णय ले लेती है। और जब सरकार यह तय कर ले कि अमुक घर अच्छा नहीं है तो वह आगे क्या करती है? बच्चे को छीन लेती है? क्या उसके पास इससे बेहतर घर उपलब्ध है? मान लें कि सरकार के यह मानने के बावजूद कि घर खराब है, बच्चा घर छोड़ना न चाहे तो? मान लें कि बच्चे को अपना पुराना घर सरकार द्वारा उपलब्ध करवाए गए नए घर से बेहतर लगे तो? मान लें वह उस “अच्छे” घर में रहने से मना कर दे और बारबार अपने उसी पुराने घर में लौटता रहे जिसे सरकार ने “खराब” घोषित कर दिया था, तो? ऐसे में सरकार उसके पीछे पुलिस भेजेगी ताकि बच्चे को जबरन सरकार के पसन्दीदा घर में ले जाया जाए। और अगर सरकार यह न करना चाहे या कर नहीं सकती हो, तो क्या वह माता-पिता से यह कहेगी, “आपका घर खराब है, इसे अच्छा बनाओ”? और अगर माता-पिता ऐसा नहीं करते हैं या कर ही नहीं सकते हैं, तो सरकार क्या करेगी? उन्हें सज़ा देगी? क्या इससे घर बेहतर हो जाएगा?

हम जो कर सकते हैं, और हमें जो करना चाहिए वह यह है कि यह अधिकार हम बच्चों को दे दें। वे स्वयं ही यह तय करें कि उन्हें उनका घर अच्छा लगता है या नहीं। और अगर उन्हें घर अच्छा न लगे तो हम उन्हें यह अधिकार दें कि वे दूसरा घर चुन सकें। सरकार ये विकल्प उपलब्ध करवाने का निर्णय भले ही ले पर उन विकल्पों को अनिवार्य न बनाए। सरकार को चाहिए कि वह बच्चों को यह अधिकार दे कि वे सरकार द्वारा उपलब्ध करवाए गए विकल्पों के अलावा भी कुछ चुन सकें। सरकार बच्चों को यह अधिकार भी दे कि वे चाहें तो *सरकार* को या माता-पिता को ना कह सकें।

एक अधिकार जो मैं बच्चों को देना चाहता हूँ वह है पैसों की एवज में काम

करने का अधिकार। यह सुनते ही लोग बच्चों को शोषण से सुरक्षित करने की चिन्ता करने लगते हैं। इस विषय पर मैं बाद में कुछ कहूँगा। पर वास्तव में जो कठिन काम होगा वह है बच्चों को भेदभाव से बचाना। जैसा कि महिलाओं और अल्पसंख्यकों के अनुभवों में हम देख ही चुके हैं। अधिकांश स्थानों पर अब कानून यह कहता है कि लोगों को काम पर लगाने में या पदोन्नत करने में प्रजाति, लिंग, व्यक्ति का मूल आदि के आधार पर भेदभाव करना अनुचित है। पर इस कानून को व्यवहार में लागू करना बड़ा कठिन काम है। यह सिद्ध करना भी बड़ा दुरुह है कि जब नौकरी देने वाले ने किसी को नौकरी दी है या पदोन्नत किया है, या दूसरों के बदले अमुक को नौकरी से निकाला है, तो इन निर्णयों का आधार गैरकानूनी रहा है। ज़ाहिर है कि नौकरी देने वाला तत्काल ही “योग्यताओं” की बात करेगा। सारे नौकरी देने वाले बच्चों या युवाओं को नौकरी न देने के तमाम कारण तलाश लेंगे। वे यह कह सकते हैं, जैसा फिलहाल वे पूरी ईमानदारी के साथ कहते हैं, कि वे बच्चों को काम पर इसलिए नहीं लगा सकते क्योंकि उनके पास काम करने की बीमा सुरक्षा नहीं है। और अगर बीमा कम्पनियाँ बच्चों को भी यह सुरक्षा देने लगे तो कानून को उनके विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ेगी।

संक्षेप में, अगर हम बच्चों के लिए काम करने का अधिकार पा भी लेते हैं तो यह सुनिश्चित करना एक कठोर समस्या होगी कि यह एक कागज़ी अधिकार, नाम के वास्ते एक अधिकार न रह जाए। यह भी एक कारण है कि हम इस अधिकार को वास्तविकता में बदलता शायद कभी नहीं देख पाएँगे। फिर बच्चे के एक ऐसे समाज में प्रभावी बनने की बात तो दूर ही है जहाँ इतनी गरीबी, बेरोज़गारी और भेदभाव पहले से ही मौजूद हों।

मैं कई बार कह चुका हूँ कि यह कहना कठिन है कि इन अधिकारों में से कौन-सा अधिकार शेष अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि जब तक एक नहीं दिया जाता, दूसरा दिया ही नहीं जा सकता है। प्रभावी बन पाने के लिए कुछ अधिकार दूसरे अधिकारों के अस्तित्व पर निर्भर हैं। जब कि कुछ दूसरे अपने आप में पूर्ण हैं। पर जैसा वयस्कों के सन्दर्भ में हमने पाया है ये अधिकार एक साथ ही लागू हो पाते हैं। अगर मेरे द्वारा प्रस्तावित समस्त अधिकार उपलब्ध भी हो जाएँ तो ज़रूरी नहीं कि युवा वर्ग उन सबका एक साथ उपयोग भी करना चाहे। सम्भव है वे इनमें से एक या दो को ही चुनें। फिर भी यह सच है कि वे अपने द्वारा चुने गए अधिकारों को तब तक प्रभावी रूप से हासिल नहीं कर सकेंगे जब तक यह सुनिश्चित न हो कि ज़रूरत पड़ने पर वे इन अधिकारों को काम में ला सकते हैं।

उदाहरण के बतौर घर छोड़ने, यात्रा करने या स्वयं अपना घर बनाने के

अधिकार को ही लें। इन अधिकारों का तब तक कोई अर्थ ही नहीं है जब तक बच्चे को पैसा कमाने का या सरकार से न्यूनतम आय पाने का और कानूनी व वित्तीय रूप से स्वयं अपने लिए ज़िम्मेदार होने का अधिकार भी हो। अर्थात् वह बैंक में अपना खाता खोल सके, चैक लिख सके, इत्यादि। पर इस स्थिति में वह बच्चे को चोरी-चपाटी और शोषण से भी नहीं बचा सकेगा (आज कई वयस्क भी ऐसा नहीं कर पाते हैं) जब तक उसे कानून का उपयोग करने और उसके माध्यम से सुरक्षा पाने का अधिकार न हो। इस कानूनी सुरक्षा का भी तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक उसे मताधिकार न हो। सम्भवतः मताधिकार ही सबसे महत्वपूर्ण है और उसे ही सबसे पहले आना चाहिए। व्यावहारिक रूप से देखें तो शायद दूसरे अधिकारों को पाने के पहले इसे पाने की सम्भावना अधिक होगी। साथ ही दूसरे अधिकारों को पाने के लिए भी इसकी ज़रूरत पड़ेगी। किन्तु मताधिकार भी केवल तब ही प्रभावी होगा जब बच्चा अपने माता-पिता की इच्छानुसार मतदान करने के नाजायज़ दबाव से स्वयं की रक्षा कर सकता हो। मैंने पुस्तक के अन्य भागों में कुछ सुझाव दिए हैं। इनके द्वारा कोई समाज या कानून बच्चों की मदद कर सकता है। जब तक बच्चों को घर से निकल पाने की छूट न हो, और निकलकर कहीं जाने का ठौर-ठिकाना ही न हो, तब तक इन सुझावों का प्रभाव भी सीमित रहेगा।

इसी प्रकार अपनी शिक्षा-दीक्षा को स्वयं प्रबन्धित करने का अधिकार भी एक ऐसा अधिकार है जो दिया जा सकता है, और दिया जाना चाहिए। यह दूसरे अधिकारों से कमोबेश स्वतंत्र रूप में लागू किया जा सकता है। कोई कारण नहीं बनता कि हर तरह से अपने माता-पिता पर निर्भर बच्चे को भी यह अधिकार न दिया जा सके या न दिया जाए कि वह स्वयं यह तय करे कि वह स्कूल में क्या, कितना और कब सीखना चाहता है; किस स्कूल में सीखना चाहता है; इसमें कितना समय लगाना चाहता है। पर यह अधिकार भी केवल तब ही प्रभावी रूप से लागू हो सकेगा जब उसके पास अपने माता-पिता के दबावों का प्रतिरोध करने या उनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय हो।

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि समाज एक ऐसा वृहद् कानून पारित कर डाले जिसमें समस्त अधिकार एक पैकेज के रूप में हों। अगर भविष्य में कभी बच्चों को अधिकार मिलते भी हैं तो सम्भवतः वे पारित नियमों या न्यायालयों के फैसलों की एक श्रृंखला द्वारा ही आएँगे, जो एक बार में एक ही अधिकार को प्रभावित करते हों। पर जो लोग बाल अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि अकेले अपने आप में बच्चों के जीवन को बदलने में कोई भी एक अधिकार खास प्रभावी नहीं सिद्ध होगा। अगर हम कुछ अधिकारों को बेहद ज़रूरी मानते हैं तो हमें शायद कुछ दूसरे अधिकारों के लिए भी कोशिश करनी होगी।

17. मताधिकार

मत देने का अधिकार उन सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारों में से एक है जो युवावर्ग को उपलब्ध करवाए जाने चाहिए। यह अधिकार इस बात पर निर्भर नहीं होना चाहिए कि उस बालक या किशोर के पास अन्य अधिकार हैं या नहीं, वह उन्हें इस्तेमाल कर रहा है या नहीं। दूसरे शब्दों में, वह व्यक्ति जो तमाम दूसरे अर्थों में एक बच्चे, एक निर्भर व्यक्ति के रूप में जी रहा हो, उसे भी मताधिकार हो। उसी तरह जैसे उन वयस्कों को भी होता है जो दूसरों पर निर्भर हैं।

यद्यपि हम सम्भवतः हर बार मत देने की आयु को एक या दो वर्ष ही घटाएँगे, फिर भी मैं यह चाहता हूँ कि अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी आयु में मत देने का अधिकार हो। इस अधिकार से कोई भी वंचित न रहे।

लोगों को अपनी सरकारें स्वयं चुनने देने के पीछे जो मुख्य कारण है वह यह नहीं है कि वे विशेषज्ञों से या किसी समूह से बेहतर सरकार चुनेंगे। इसके पीछे कारण यह है कि यह न्याय का मामला है। अगर आपके निर्णय का प्रभाव मुझ पर पड़ने वाला है, तो फिर मुझे भी इस विषय में कुछ कहने का अधिकार होना चाहिए। अगर आप मुझ पर नियंत्रण करने वाले हैं तो आप पर कुछ नियंत्रण मेरा भी होना चाहिए। प्रारम्भिक अमरीकावासियों ने बिना प्रतिनिधित्व पाए कर लगाने को अन्याय माना था। पर बात सिर्फ करों की नहीं है, उससे कहीं अधिक है। किसी समाज के नियमों के अधीन होना उस स्थिति में सबसे गम्भीर अन्याय है जब यह कहने का अधिकार ही न हो कि वे नियम कौन-से होंगे। यह स्थिति भ्रष्टाचार, अत्याचार और सत्ता के दुरुपयोग को आमंत्रित करती है। ज़ाहिर है कि सत्ता में बैठे लोगों को जब अपने मतदाताओं के समक्ष किसी तरह की रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होती है, कि वे क्या कर रहे हैं या क्या करने वाले हैं, तो अनुमोदन पाने की यह प्रक्रिया उन पर कोई खास अंकुश नहीं लगाती है। फिर भी यह किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं होने से बेहतर है।

लोगों को अपनी सरकार पर और यूँ अपने जीवन पर नियंत्रण देने का दूसरा बड़ा कारण यह है कि सम्भवतः इससे वे अधिक जानकार और ज़िम्मेदार बनें। यह सच है कि लोग हमेशा अपने अनुभवों से नहीं सीखते, पर उनके बिना तो

वे सीख ही नहीं सकते हैं। और मात्र अनुभव ही नाकाफी है। उन्हें केवल अनुभव की आवश्यकता नहीं है, वरन् अनुभव को प्रभावित करने की क्षमता भी ज़रूरी है। अगर वे यह सोचने लगें कि उनके विकल्प और निर्णय उनके जीवन को प्रभावित करते हैं, तो वे अधिक समझदारी से चुनेंगे, निर्णय लेंगे। पर अगर उन्हें यह लगे कि इससे कोई फर्क ही नहीं पड़ता तो फिर वे सोचने की ज़हमत भला क्यों उठाएँगे? लोगों को जो चीज़ भ्रष्ट करती है वह केवल सत्ता नहीं है, बल्कि नपुंसकता भी है। इससे लोगों के दिमाग, उनकी आत्माएँ गुलामों की सी बन जाती हैं। वे उदासीन, आलसी, दोषदर्शी, गैरज़िम्मेदार और बेवकूफ बन जाते हैं।

इसका इस भावनात्मक विश्वास से कोई लेना-देना नहीं कि एक साधारण व्यक्ति या जन सामान्य के पास कोई रहस्यमय बुद्धिमानी है, या वे कभी गलती कर ही नहीं सकते। ज़ाहिर है वे तमाम गलतियाँ करेंगे। लोग अमूमन अज्ञानी होते हैं और गलती कर सकते हैं। किन्तु आम तौर पर प्रत्येक इंसान दूसरे किसी व्यक्ति की तुलना में यह बात बेहतर जानता है कि उसकी ज़रूरत क्या है, उसे क्या चाहिए, कौन-सी चीज़ उसे खुशी और आनन्द देती है, और कौन-सी दुख और पीड़ा। अगर वास्तविक विकल्प उनके समक्ष हों तो लोग अपने लिए जो चुनेंगे वह उससे बेहतर ही होगा जो दूसरे उनके लिए चुनें। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से बेहतर तरीके से यह बात समझ सकता है कि उसने भूल की है। उसके द्वारा जो चुना गया था वह सही चयन नहीं था। और अगर इस भूल को सुधारने का मौका मिले तो सम्भावना यही है कि वह दूसरों की तुलना में उस भूल को वास्तव में सुधारे।

एक नौजवान ने एक बुद्धिमान व्यक्ति से, एक गुरु से पूछा कि व्यक्ति बुद्धिमान कैसे बनता है। गुरु ने जवाब दिया, “ज्यादातर यह सही फैसले का मामला होता है।” नौजवान ने जानना चाहा कि उसमें सही फैसले की शक्ति कैसे उपज सकती है। गुरु ने जवाब दिया, “सही अनुभवों द्वारा।” बौखलाया नौजवान चीख पड़ा, “पर मुझे वैसे अनुभव कैसे होंगे?” गुरु ने कहा, “गलत फैसले करने पर”।

कुछ लोग कहेंगे उन लोगों का क्या जो हमेशा गलतियाँ ही करते रहते हैं, जो न तो उन गलतियों से कुछ सीखते नज़र आते हैं, न ही सीखना चाहते हैं? भला हमें शेष लोगों को, उनके द्वारा किए गए बिगाड़ को, क्यों माफ करना चाहिए, उनकी गलतियों का खामियाज़ा हमें क्यों भुगतना चाहिए? हम यह क्यों नहीं कह देते कि क्योंकि तुम उलझनों से दूर नहीं रह पाते, हम तुम्हारे लिए “चौकीदार” नियुक्त कर देंगे। इसका एक जवाब तो यह है कि चौकीदार रहेगा तो व्यक्ति कभी सीखेगा ही नहीं। पर सबसे अच्छा जवाब यह है कि

दूरगामी अर्थों में हमें चौकीदार की जो कीमत चुकानी होगी, वह उसके पहले में रह रहे व्यक्ति से कहीं ज्यादा होगी। अगर जुआ खेलना हर जगह वैध होता तो कुछ लोग अपना जीवन ही जुए में लगा देते। पर इन आदतन जुआरियों को उनके व्यसन में लिप्त रखने की कीमत निश्चित रूप से उस कीमत की तुलना में काफी कम होगी जो हमें जुए को गैर-कानूनी घोषित करने के प्रयास में वित्त और भ्रष्टाचार के रूप में अपनी सरकार, अपने समाज में चुकानी होगी। इस देश में डीमन रम (गैर-कानूनी शराब) ने उतना नुकसान कभी नहीं किया जितना शराबबन्दी ने किया।

अगर लोकतंत्र उतनी बुरी तरह से काम करता है जितना वह दरअसल करता है, तो इसका कारण यह नहीं कि लोग गलतियाँ करते हैं, बल्कि यह है कि जो लोग विभिन्न पदों के लिए खड़े होते हैं (यानी सरकारी कर्मचारी) वे उन चीज़ों के बारे में इतने गोपनीय और बेईमान होते हैं जो वे करते हैं या करना चाहते हैं। होता अक्सर यह है कि राजनैतिक सत्ता के भूखे लोग निजी स्तर पर तय कर लेते हैं कि जनता और देश के लिए क्या सर्वश्रेष्ठ है। और तब वे लोगों को सहमत करने के लिए तमाम तरह की अपीलें करते हैं, झूठ बोलते हैं, ताकि लोग उन्हें सत्ता सौंप दें। हम लोकतंत्र और प्रतिनिधि सरकार के विषय में वह कह सकते हैं जो जी. के. चेस्टरटन ने ईसाई धर्म के बारे में कहा था - ऐसा नहीं है कि लोगों ने इसका उपयोग किया और उसमें कमियाँ पाईं। बल्कि सच यह है कि लोगों को यह इतना कठिन लगा कि उसका उपयोग ही नहीं किया गया।

बच्चों, किशोरों को मताधिकार न देना इसलिए और भी अन्यायपूर्ण है क्योंकि सरकार के निर्णयों और कृत्यों का प्रभाव शेष लोगों की बनिस्बत उन पर कहीं अधिक पड़ेगा। अगर भविष्य में कोई देश युद्ध करने का निर्णय लेता है या ऐसा निर्णय लेता है जिसके चलते भविष्य में युद्ध अवश्यम्भावी हो जाए, तो आज के बच्चे और किशोर कुछ वर्षों बाद दूसरों को मारेंगे या खुद मरेंगे। पर उस निर्णय के विषय में कुछ कहने का अधिकार उनका न होगा। ऐसे में यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों को युद्ध या शान्ति के विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए जिन्हें लड़ने के लिए बुलाया ही न जाए। युद्ध की बात अगर छोड़ भी दें तो भी राजनैतिक निर्णयों का सर्वाधिक प्रभाव युवा वर्ग पर पड़ता है, क्योंकि वे ही हमारे निर्णयों और हमारी गलतियों के परिणामों को सबसे लम्बे समय तक झेलेंगे।

जब मैं कहता हूँ कि मेरी चाहत है कि युवा वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति मत दे सके तो वयस्क आश्चर्य, अविश्वास, यहाँ तक कि गुस्से से भरकर पूछते हैं कि क्या

मैं हर उम्र के बच्चे की बात कर रहा हूँ। दरअसल यही मेरा अर्थ है। मैं केवल सोलह साल के किशोरों की नहीं बल्कि छह साल के बच्चों की भी बात कर रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि छह साल का जो बच्चा मत देना चाहे, उसे ऐसा करने का अधिकार हो।

मैं छह साल के बच्चों के बारे में जितना कुछ जानता हूँ, उसके आधार पर यह असम्भव ही लगता है कि वास्तव में छह साल के बच्चे मत देना चाहेंगे। शायद उस समाज में भी यही स्थिति रहे जिसमें बच्चों को आज की तुलना में अधिक सम्मान दिया जाए और अधिक गम्भीरता से लिया जाए। बच्चे इस दुनिया को जितनी भी आतुरता और आज़ादी से तलाशना चाहें, और हम उन्हें ऐसा करने की कितनी ही अनुमति क्यों न दें, प्रोत्साहित ही क्यों न करें, इसमें मदद क्यों न दें, वे एक बार में केवल एक कदम ही आगे बढ़ सकते हैं। मुझे शंका है कि अधिकांश छह साल के बच्चे उस हद तक बढ़ सकेंगे जहाँ उन्हें मत देना सार्थक या रोचक लगेगा। हो सकता है कि इनमें से कुछ इसके प्रति उत्तेजना और नएपन के कारण या दोस्तों से बतियाने के मकसद से ऐसा करें भी। जिनके बड़े बुजुर्ग हमेशा उम्मीदवारों, मुद्दों या मतदान की चर्चा करते हों, उन परिवारों के बच्चे भी हो सकता है वही करना चाहें जो बड़े करते हैं। पर मुझे लगता है कि अधिकांश बच्चे ऐसा नहीं करेंगे।

मैं एक बहुत छोटी उम्र के अभियान कर्मी को व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। उसकी उम्र उस वक्त छह वर्ष की थी। 1972 में राष्ट्रपति चुनाव के दौरान इस बच्ची की माँ मैकगवर्न के दफ्तर में काम करती थीं। बच्ची को सम्भालने के लिए बेबी-सिटर लगाने का उनका बूता नहीं था। और उनकी बिटिया भी घर पर अकेले रहने से अधिक उनके आसपास रहना पसन्द करती थी। माँ जहाँ भी हो, जो कुछ भी कर रही हो। अतः वह माँ अपनी बिटिया को दफ्तर ले आती थी। सबको व्यस्त और काम में मशगूल देख, दूसरे बच्चों की ही तरह इस बालिका को भी हाथ बँटाने की इच्छा हुई। जल्दी ही वह लिफाफों में सामग्री डालने, उन पर टिकटें लगाने, कागज़ों की फोटोकॉपी करने का काम करने लगी। इसमें उसे बहुत मज़ा भी आने लगा। लौटते समय वह हमेशा दुखी होती और उत्साह से वापस आती थी।

अगर उसे मत देने का अधिकार होता तो क्या यह बच्ची राष्ट्रपति चुनाव में अपना मत डालती? मुझे लगता है कि शायद वह ऐसा करती, बशर्ते उस वक्त करने को कुछ अधिक उत्तेजक काम उसे छोड़ना न पड़ता (प्रत्येक राजनैतिक कार्यकर्ता यह जानता है कि ज़रा-सी बरसात हुई कि ढेरों वयस्क मत डालने से कतरा जाते हैं। और अगर मतदान के दिन दूरदर्शन पर फुटबॉल का मैच चल रहा हो तो...)। उस बालिका को उम्मीदवार या विभिन्न मुद्दों पर उसके

विचारों के बारे में क्या पता था? बहुत ही कम। जिन बड़ों को वह पसन्द करती थी, जिन पर उसे भरोसा था, उनके मुँह से उसने मैकगवर्न का नाम सुना था। उसने देखा था कि लोग उस चुनावी अभियान से उत्तेजित हैं और उनकी चर्चाओं से उसे यह भी अन्दाज़ लगा था कि मामला युद्ध से जुड़ा है। और अगर उसके मित्र निक्सन के प्रशंसक होते और उत्साह से निक्सन के लिए काम करते, तो शायद वह उसी उत्साह से निक्सन के लिए मत डाल देती। अगर राजनीति और युद्धों के बारे में वह बहुत कुछ न भी जानती रही हो, फिर भी जितना भर वह जानती थी वह महत्वपूर्ण था - कि यह एक गम्भीर मसला है। ऐसा मसला जिसके बारे में वयस्कों का सरोकार है। वे इस पर उत्तेजित होते हैं, और उसके लिए मेहनत करते हैं। वह जिस किसी उम्मीदवार के भी पक्ष में मत डालती, उसका मत उतनी ही सार्थकता लिए होता जितना कई वयस्कों का मत होता है।

दस वर्ष के बच्चों की स्थिति सम्भवतः काफी भिन्न हो। मेरा कयास है कि उनमें से कई मत डालते, अगर डालना सम्भव होता। और सिर्फ इसलिए नहीं कि वे उत्तेजना या अपने माता-पिता की गतिविधि में भागीदार बनना चाहते, बल्कि अपने निजी कारणों से। मैं कई ऐसे दस वर्षीय बच्चों को जानता हूँ जो दुनिया और उसकी समस्याओं के बारे में कम से कम उतना तो जानते ही हैं जितना मैं और मेरे अधिकांश मित्र कॉलेज छोड़ते समय जानते थे। इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि लोग दस वर्ष की उम्र में, जब बच्चे बहिर्मुखी जीवन जीते हैं, चौदह वर्ष के किशोरों की तुलना में अधिक मत डालें। क्योंकि चौदह वर्ष की उम्र में वे कई कारणों से अपने व्यक्तिगत, भावनात्मक और सामाजिक जीवन को लेकर अधिक चिन्तित रहते हैं। पर दूसरी ओर किशोरों की चिन्ताएँ होती भी इसलिए हैं क्योंकि दूसरी तरह की चिन्ताओं में उलझने की अनुमति हम उन्हें नहीं देते। हमने किशोरावस्था को एक पन्थ, एक जीवन शैली और (वयस्कों के लिए) एक लाभदाई उद्योग का रूप दे दिया है।

इस विषय में बच्चे स्वयं क्या सोचते हैं इसका लगभग कोई प्रमाण नहीं है। *किड्स* नामक पत्रिका ने मेरा एक पत्र छापा था। इसमें मैंने पाठकों से जानना चाहा था कि उनके विचार में बच्चों को मत देने की अनुमति होनी चाहिए या नहीं, और अगर अनुमति हो तो क्या वे मत डालेंगे। एक शिक्षिका, श्रीमती पॉल, ने अपनी चौथी कक्षा को पत्र पढ़कर सुनाया और उन्हें पत्र द्वारा अपने विचार व्यक्त करने को कहा। श्रीमती पॉल मिशिगन में हॉलैण्ड नामक जगह पर लॉन्गफैलो स्कूल में पढ़ाती थीं। मुझे पता नहीं कि बच्चों ने पत्र लिखने के पहले मेरे सवालों पर कक्षा में बातचीत की, या माता-पिता से। उनके जो जवाब मिले वे नीचे दी गई श्रेणियों में संख्या के साथ दर्शाए गए हैं:

मैं मतदान करूँगा और हमें ऐसा करने की अनुमति दी जानी चाहिए	8 लड़के, 3 लड़कियाँ
मैं मतदान करूँगा	1 लड़का
मैं मतदान करूँगा पर बच्चों को अनुमति नहीं दी जानी चाहिए	5 लड़के और 2 लड़कियाँ
मैं मतदान नहीं करूँगा	1 लड़का (धार्मिक कारणों से)
हमें इसकी अनुमति नहीं होनी चाहिए	1 लड़की
मैं मतदान नहीं करूँगा और इसकी अनुमति हमें होनी भी नहीं चाहिए	4 लड़के, 4 लड़कियाँ

जिन्होंने यह कहा कि वे मतदान नहीं करेंगे, या उन्हें मतदान की अनुमति नहीं होनी चाहिए, उन्होंने निम्न कारण बताए (कुछ ने एक से अधिक कारण दिए, तो किसी ने एक भी नहीं):

मत देना आएगा नहीं, हम ज़िम्मेदार नहीं हैं, काम बहुत कठिन है, आदि	10
जिन्हें पूर्व में लम्बे समय तक इन्तज़ार करना पड़ा, उनके प्रति अन्याय होगा	4
बच्चे मतदान मशीनें ही तोड़ डालेंगे	3
बच्चे माता-पिता की ही तरह मत देंगे	2

इन आँकड़ों में रोचक बात यह है कि सात बच्चों ने कहा कि वे अनुमति पाने पर मत ज़रूर देंगे, पर बच्चों को इसकी अनुमति नहीं होनी चाहिए। यह बात मुझे अपनी पाँचवीं कक्षा के कुछ बच्चों की याद दिलाती है, जो किन्हीं परिस्थितियों में गरमाते हुए कहते थे कि अगर किसी ने एक पेंसिल चुरा ली हो, या खाने की छुट्टी में किसी को गिरा दिया हो, तो उसे घर भेज देना चाहिए या हफ्ते भर के लिए स्कूल से निलम्बित कर देना चाहिए। जबकि वे स्वयं भी ऐसी ही खुराफातें लगातार करते थे। और इसके लिए अगर कोई उन्हें कड़ी सज़ा देने की बात करता तो बेहद नाराज़ हो जाते थे (जो वाजिब भी था)। जिन सात बच्चों ने कहा कि बच्चे कई कारणों से मतदान के अधिकार के लायक चतुर नहीं थे, वे खुद को ऐसा नहीं मान रहे थे। पर स्कूल के लिए कठोर नियमों की पैरवी करने वाले छात्र-छात्राएँ ठीक ऐसी ही बात मानते हैं। वे मानते हैं कि वे स्वयं तो ऐसे नियमों के बिना भी उचित आचरण करेंगे, पर दूसरे छात्र ऐसा नहीं कर पाएँगे।

पर यह भी हो सकता है कि जब चौथी कक्षा के बच्चों ने कहा कि बच्चों को मतदान की अनुमति नहीं देना चाहिए, तब वे शायद अपने से छोटे बच्चों की बात कर रहे हों। शायद वे खुद को “बच्चा” ही न मानते हों। मैं पाँचवीं कक्षा के कई बच्चों को जानता हूँ जो स्वयं को कम उम्र की श्रेणी में रखने को तो तैयार होते हैं, पर बच्चों की श्रेणी में नहीं।

जिन दो बच्चों ने कहा कि बच्चों को मत देने की अनुमति नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह वयस्कों के प्रति अन्याय होगा, वे शायद सवाल को समझे ही नहीं। शायद उन्होंने सोचा हो कि मैं खास उनके लिए नियम में अपवाद स्वरूप छूट की बात कर रहा हूँ। पर मैं इस विषय में पक्की तरह से कुछ नहीं कह सकता।

मैंने पुस्तक के एक दूसरे हिस्से में नवीं जमात के बच्चों के साथ हुई एक बैठक का जिक्र किया है। इसमें लगभग दो-तिहाई बच्चों ने कहा था कि अगर वे मतदान कर सकते तो जरूर मत देते। सम्भव है कि उनमें से कई यह कयास लगाने कि कोशिश कर रहे हों कि मैं क्या सुनना चाहता हूँ, या वे कक्षा में मौजूद दूसरे वयस्कों के सामने स्वयं को “जिम्मेदार” जताना चाहते हों। मेरी एक मित्र ने अपनी नवीं कक्षा के बच्चों से पूछा था कि अगर उन्हें मतदान का अधिकार होता तो वे मत देते या नहीं। और ज़्यादातर ने जवाब दिया था कि वे मतदान नहीं करते।

पर लोग किसी स्थिति में क्या करेंगे जब वे इस पर सैद्धान्तिक रूप से बोलते हैं तो उसमें तथा उस स्थिति में वास्तव में वे क्या करते हैं में अक्सर काफी अन्तर होता है। 1972 के राष्ट्रपति चुनावों के समय अधिकांश राजनैतिक विशेषज्ञों का मानना था कि अभियान के दौरान अठारह से इक्कीस वर्ष के युवा भारी संख्या में मतदाताओं के रूप में अपना पंजीकरण करवाएँगे और मत डालेंगे। साथ ही यह भी कयास लगाया गया था कि कई राज्यों में उनका मत ही राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार को विजयी बनाएगा। पर ऐसा हुआ नहीं। युवाओं ने पंजीकरण भी करवाया, मत भी दिए, पर उनकी संख्या लगभग वयस्कों के समान ही रही, या उनसे कुछ कम ही, और उन्होंने मत भी वैसे ही दिए जैसे शेष वयस्कों ने। पंजीकरण करवाने और मत डालने में यह असफलता एक गम्भीर राजनैतिक भूल सिद्ध हुई। युवाओं ने बाद में अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि दोनों उम्मीदवारों से तथा नामांकन प्रक्रिया आदि से उनका मोहभंग हो चुका था। यह सच है कि यह मोहभंग जायज़ था, पर उनकी प्रतिक्रिया फिर भी अविवेकपूर्ण थी। अगर वे एकजुट होकर पंजीकरण करवाते, पर चयनात्मक रूप से मत देते या फिर न भी देते, तो वे दोनों ही राजनैतिक दलों के नेताओं को यह स्पष्ट कर सकते थे कि वे मतदाताओं का एक ऐसा भारी समूह हैं जिन्हें उनके तौर-तरीके नापसन्द हैं। बावजूद इसके

वे उस उम्मीदवार का समर्थन कर सकते हैं जिस पर उन्हें भरोसा हो। पर उनके कृत्य का नतीजा यह रहा कि उन्होंने राजनीतिक दलों को यह जताया कि उनके मतों की उपेक्षा की जा सकती है और जो कोई युवाओं की आवश्यकताओं या इच्छाओं का सम्मान करेगा वह स्वयं राजनैतिक जोखिम मोल लेगा। अतः यह पूरी सम्भावना है कि युवा वर्ग का नेता होने का लेबल चस्पाँ होने के कारण मैकगवर्न को युवाओं के मत तो नहीं ही मिले, साथ ही उन्हें कई बड़ों के मतों से भी हाथ धोना पड़ा। इस प्रकार की सीख भावी चुनावों के उम्मीदवार ज़रूर याद रखेंगे। वे भी आज के कई उम्मीदवारों की तरह यही मानेंगे कि युवाओं के विरुद्ध होना उनके पक्ष में होने से अधिक सुरक्षित है।

व्यावहारिक राजनैतिक मसले के रूप में मतदान की आयु अठारह वर्ष से कम होकर सोलह वर्ष की तब तक नहीं हो पाएगी जब तक कम से कम दो चीज़ें न हो जाएँ। अब्बल तो यह कि सोलह से अठारह वर्ष के युवाओं को भारी संख्या में मताधिकार की माँग करनी होगी। उन्हें राजनीतिज्ञों को कहना होगा कि “अगर तुम आज हमें मताधिकार से वंचित रखोगे, तो हम उस वक्त भी यह बात याद रखेंगे जब हमें मताधिकार मिल जाएगा।” और राजनीतिज्ञों को भी यह अहसास होना होगा कि युवा सच में ऐसा करेंगे। दूसरे, इन सोलह से अठारह वर्ष के युवाओं के समूह को अपने से बड़ी आयु के मतदाताओं के सशक्त समूहों से गठबन्धन करना होगा। मैं आशा करता हूँ कि इन समूहों में अठारह से इक्कीस वर्ष के मतदाताओं के समूह भी होंगे। मैं छात्रों के अधिकारों या अपने स्कूलों को सुधारने के संघर्ष में जुटे युवाओं से कहना चाहता हूँ कि अपनी बन्दूक ऐसे लक्ष्य की ओर दागो जो बेधने लायक हो। छात्र अधिकारों को भूल जाओ और खुद के लिए नागरिक अधिकार हासिल करो। मताधिकार प्राप्त कर लो, और जब तुम्हें वह मिल जाए तो अपने से छोटी उम्र के लोगों के मताधिकार के लिए संघर्ष करो। स्कूल अन्दर से सुधारे ही नहीं जा सकते। उनका गम्भीर सुधार एक राजनैतिक मसला है। यह रैलियों, स्कूल अध्यक्ष या डीन के कार्यालयों के घेरावों से हासिल नहीं होगा। अगर यह कभी होगा तो मतों से होगा।

पहले मैंने कहा था कि मताधिकार लोगों को अधिक सचेत और ज़िम्मेदार नागरिक बनाता है। यह बात युवाओं पर भी उतनी ही लागू होती है। मतदान की सम्भावना अपने आप मतदान में रुचि भी जगाएगी। ज़िम्मेदारी उठाने की सम्भावना लोगों को ज़िम्मेदारी के प्रति आकृष्ट करती है। आज कई युवक यह कह सकते हैं कि “मैं राजनीति में रुचि क्यों लूँ। मैं कितना ही क्यों न जानूँ और सीख लूँ, मत तो दे ही नहीं सकता।” केवल इतना जानना मात्र कि अगर वे चाहें तो मतदान कर सकते हैं, या यह जानना कि हमउम्र लोग मत डालते

हैं, युवाओं को स्कूली पाठ्यक्रम में ठूँसे नागरिक शास्त्र के उपदेशों से कहीं अधिक आकर्षित करेगा, अधिक जानकारी देगा। यह वयस्कों की दुनिया की ओर ले जाने वाला खुला दरवाज़ा या आमंत्रण होगा। एक प्रश्न की कड़ी दूसरे से जुड़ेगी। लोग मतदान क्यों करते हैं? ये उम्मीदवार करते क्या हैं? (ये ऐसे सवाल हैं जिनके उत्तर केवल कुछ ही वयस्क दे सकते हैं।) ज़रा सोचिए कि माध्यमिक या प्राथमिक शाला में स्कूल के या कक्षा के चुनावों में, जहाँ लोकप्रियता के सिवा कुछ भी दाँव पर लगा हुआ नहीं होता, बच्चे सप्ताहों तक इसकी चर्चा करते हैं, इसके लिए मेहनत करते हैं। और हम अक्सर इससे यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उनके सरोकार बचकाने हैं - देखो बिना बात ही इतने उत्तेजित हुए जाते हैं। पर हम उन्हें गम्भीर बातों में सरोकार जगाने का अवसर कब देते हैं?

हाल में छपे एक समाचार चित्र में एक बच्चा एक टी-शर्ट पहने खड़ा था। उस पर लिखा था- “रन्पूपी [एक कार्टून] फॉर प्रेसिडेन्ट।” ऐसे चित्र देख हम सोचते हैं, “हाय, कितना क्यूट लग रहा है ना!” इससे हमें यह विश्वास भी हो जाता है कि बच्चे राष्ट्रपति पद का मतलब वास्तव में समझते ही नहीं और उस विषय में समझदारी से सोच भी नहीं सकते। हम भूल जाते हैं कि जिस व्यक्ति को अब टी-शर्ट पर “रन्पूपी फॉर प्रेसिडेन्ट” छापने का विचार सूझा था, वह बच्चा नहीं, वयस्क ही था। ऐसे वस्त्र वयस्क ही तैयार करते हैं, और वयस्क ही खरीदकर इन्हें बच्चों को पहनाते हैं। पर ऐसी टी-शर्ट हमें बच्चों की सोच या उनके सोचने के तरीके के बारे में कुछ भी नहीं बताती।

मैं कुछ समय से इस विषय पर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के “विद्वान” श्रोताओं से भी चर्चा करता रहा हूँ। जब मैं उनके समक्ष यह कहता हूँ कि बच्चों को भी मत देने की अनुमति होनी चाहिए तो उनकी प्रतिक्रिया भय और क्रोध मिश्रित होती है। ऐसी एक बैठक में एक व्यक्ति खड़ा हुआ। उसकी आवाज़ गुस्से से काँप रही थी, उसने जानना चाहा कि मैं ऐसा सोच ही कैसे सकता हूँ। उसके शब्द ठीक से निकल तक नहीं रहे थे - मैं यह कल्पना तक कैसे कर सकता हूँ कि एक छह साल के बच्चे को पता होगा कि मूल्यवृद्धि के बारे में क्या करना चाहिए। मैंने कहा, “संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति भी नहीं जानता कि मूल्यवृद्धि के बारे में क्या करना चाहिए। जहाँ तक मैं जानता हूँ दूसरे देशों के प्रमुख भी इस बारे में नहीं जानते। और अगर वे जानते हैं तो वे कुछ कर नहीं सकते या फिर करना नहीं चाहते।”

अधिकांश लोग यह मानकर चलते हैं कि अगर बच्चे मतदान करेंगे तो बेवकूफी, अज्ञानता या गौण कारणों से करेंगे। पर मुझे नहीं लगता कि वयस्क मतदाताओं के मत देने के कारणों की तुलना में बच्चों के कारण अधिक बेवकूफी भरे होंगे।

पर अगर यह स्थापित भी हो जाए कि बच्चे अधिकांश वयस्कों की तुलना में अधिक अविवेकपूर्ण मतदान करते हैं, तो भी यह तथ्य उन्हें मताधिकार से वंचित रखने का पर्याप्त कारण नहीं होगा।

आज इस बात का पर्याप्त प्रमाण मौजूद है कि भारी संख्या में मतदाता बिना कुछ जाने-बूझे, बेहद गौण या बेवकूफी भरे कारणों के आधार पर अपना मत डालते हैं। हमने बार-बार पाया है कि शिक्षित होने के बावजूद अधिकांश लोग स्वतंत्रता घोषणापत्र (डेक्लरेशन ऑफ इण्डिपेण्डेंस) या अधिकार पत्र (बिल ऑफ राइट्स) को साधारण कागज़ पर टंकित देखकर पहचान तक नहीं पाते। जब उनसे कहा जाता है कि वे इस पर हस्ताक्षर करें तो दस में से नौ लोग, हमारे समाज के सबसे मूलभूत दस्तावेज़ पर, हमारी राजनैतिक व्यवस्था का आधार माने जाने वाले इस दस्तावेज़ पर, हस्ताक्षर करने से मना कर देते हैं। वे इसे क्रान्तिकारी, विद्रोही, वामपन्थी दस्तावेज़ घोषित कर देते हैं। और अगर हमारी मौजूदा सरकार की दृष्टि से देखें तो उपरोक्त दस्तावेज़ ऐसे लग भी सकते हैं। कोरियाई युद्ध प्रारम्भ होने के दो या तीन साल बाद, एक बड़े शहर के दैनिक समाचार पत्र ने, जो शिक्षित व सुसंस्कृत माना जाता था, ताज़ा घटनाओं पर मत संग्रह का एक स्तम्भ प्रारम्भ किया। स्तम्भ में “दुनिया में क्या हो रहा है” सम्बन्धी सवाल सड़क चलते लोगों से पूछे जाते थे। इनमें से एक था “कोरिया अन्दाज़न कहाँ है?” मत संग्रह के सन्दर्भ में “प्रशान्त महासागर में”, “जापान के पास” या “चीन के पास” जैसे उत्तर सही मान लिए जाते थे। पर आधे से ज़्यादा लोग इस तरह के सही जवाब तक नहीं दे पाए। हाल में 1972 के राष्ट्रपति चुनाव अभियान के दौरान कुख्यात वॉटरगेट हादसा हुआ। और अब जब मैं लिख रहा हूँ (अप्रैल, 1973) यह क्रमशः अमरीकावासियों के ध्यान के केन्द्र में आने लगा है। परन्तु 1972 की पतझड़ में जब अभियान काफी बढ़ चुका था, और अखबारों, रेडियो, टीवी आदि में लगातार वॉटरगेट हादसे का ज़िक्र हो रहा था, एक राष्ट्र स्तरीय मत संग्रह में केवल एक तिहाई लोग ही इस नाम को पहचान पाए। और उनमें से भी केवल आधे लोगों को इसके अर्थ का अन्दाज़ था। जबकि यह घटना अमरीकी राजनीति और हमारे देश के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण और खतरनाक घटना है।

कुछ समय पहले कैलिफोर्निया में काँग्रेस सीट के लिए एक कड़ा चुनावी संघर्ष हुआ था। जिस ज़िले के लिए यह चुनाव था उसमें पालो आल्टो का कुछ या पूरा हिस्सा आता था। रिपब्लिकन दल का जो व्यक्ति उस सीट पर कई सालों से था, वह भारत-चीन युद्ध का समर्थक था। उसे चुनौती दे रहा था डेमोक्रेटिक दल का एक सदस्य जो मंत्री पद पर था। पालो आल्टो एक समृद्ध समुदाय है। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय भी यहीं है। अतः अभियान में खूब पैसा लगा और खूब

मेहनत की गई। ढेरों पर्चे बँटे, पोस्टर लगे, कार्यकर्ताओं ने घर-घर जाकर सम्पर्क किया, ढेरों मतदाताओं से बातचीत की। उम्मीदवारों और मुद्दों का इतना प्रचार शायद सौ में से एक चुनावी अभियान में भी नहीं होता। चुनाव पूरा होने और रिपब्लिकन उम्मीदवार के जीतने के बाद कुछ समाजशास्त्रियों ने यह जानने का निश्चय किया कि मतदाताओं ने अपने मत किस आधार पर दिए। उन्होंने मुद्दों के बारे में क्या सोचा, उन्हें कौन-से मुद्दे अधिक महत्वपूर्ण लगे, चुनावी प्रचार के कौन-से तरीके प्रभावी रहे, कौन-से नहीं। उन्होंने पाया कि सावधानी से चुने गए सैम्पल के जितने मतदाताओं से बातचीत की गई उन्हें अभियान के मुद्दों की *लगभग कोई जानकारी नहीं* थी। उन्होंने अपने मत इन आधारों पर दिए थे - उन्हें उम्मीदवार की सूरत पसन्द आई, या उसका नाम; या इसलिए क्योंकि वह अधिक उम्र का और अनुभवी व्यक्ति लगा; या उन्हें लगा कि अब नए व्यक्ति को चुनना ठीक होगा, या उन्होंने हमेशा रिपब्लिकन या डेमोक्रेटिक दल को ही मत डाला था और इस परिपाटी को बदलने की ज़रूरत उन्हें नहीं लगी थी। मतदाताओं का काफी प्रतिशत तो यह भी साफ नहीं बता पाया कि किस दल ने कौन-से मुद्दे उठाए थे या कौन-सा उम्मीदवार किन मुद्दों को लेकर खड़ा हुआ था। कई मतदाता जो युद्ध समर्थक थे उन्होंने युद्ध विरोधी उम्मीदवार को मत दे डाला और युद्ध विरोधी मतदाताओं ने युद्ध समर्थक उम्मीदवार को। रिपब्लिकन (या डेमोक्रेटिक) दल के मतदाताओं को तब तक यह भी पता नहीं था कि उन्होंने दरअसल अपने उम्मीदवार के बदले विरोधी दल के उम्मीदवार को मत डाला है जब तक साक्षात्कार करने वाले ने उन्हें यह नहीं बताया। मतदाताओं में जानकारी का यह अभाव या गलत जानकारी का होना - और वह भी एक तथाकथित उच्च शिक्षित समुदाय में और इतने सघन प्रचार अभियान के बाद - एकदम अविश्वसनीय था।

पर कोई भी वयस्क कितना भी अज्ञानी, गलत जानकारी वाला या सीधे-सीधे भ्रमों में जीने वाला क्यों न हो, उसे मतदान करने से रोका नहीं जा सकता। आज भी देश में कुछ लोग मानते हैं कि दुनिया चपटी है, या खोखली है, पर वे मत दे सकते हैं। तमाम लोग बाईबल में लिखे प्रत्येक वाक्य के शाब्दिक अर्थ में विश्वास करते हुए आज भी मानते हैं कि ईश्वर ने सात दिनों में विश्व की रचना की, या औरत को पुरुष की पसली से बनाया गया था, आदि...आदि, फिर भी वे मत दे सकते हैं। फोर्ड मोटर कम्पनी के संस्थापक, हैनरी फोर्ड (अपने जीवन के अधिकांश वर्षों तक) उन लोगों में से थे जो एक मिथकीय दस्तावेज़ में विश्वास करते थे। दस्तावेज़ का नाम था *प्रोटोकॉल्स ऑफ द एल्डर्स ऑफ ज़ायन*। लोग इसे यहूदियों द्वारा विश्व पर कब्ज़ा करने की साजिश

का रिकॉर्ड मानते हैं। पर फिर भी वे मतदान कर सके। कई लोगों का मानना था कि एशिया डॉमीनोस यानी नकाबपोशों से बना हुआ है। ऐसे भी लोग हैं जो दूसरों को मशीन मानते हैं। संक्षेप में, तमाम ऐसे लोग हैं जो हर तरह की अजीबो-गरीब, काल्पनिक, यहाँ तक कि खतरनाक चीजों में विश्वास करते हैं। पर उनमें से किसी को मतदान करने से रोका नहीं जाता। तो फिर बच्चों को क्यों रोका जाता है? यह मानने की कोई वजह नहीं कि अधिकांश वयस्क जिन कारणों से मतदान करते हैं, वे उन कारणों से बेहतर हैं जिनके तहत अधिकार दिए जाने पर बच्चे मतदान करेंगे। राजनीतिज्ञ व पद पाने की इच्छा रखने वाले इस बात को बखूबी समझते हैं। यह वर्षों से अमरीकी राजनीति का मूलभूत सिद्धान्त रहा है। इस पर खूब लिखा गया है और 1972 के राष्ट्रपति चुनावों के दौरान भयावह रूप से प्रमाणित भी हुआ है। राजनीतिज्ञ जानते हैं कि चुनाव जीतने का सबसे सुनिश्चित उपाय है मुद्दों से यथासम्भव दूर रहना और पूरा ध्यान अपनी छवि को गढ़ने में लगाना।

कुछ लोग सवाल करते हैं कि “अगर बच्चों को मतदान का अधिकार दिया जाए, तो क्या यह खतरा नहीं होगा कि उनके माता-पिता उन्हें बता दें कि फलॉ व्यक्ति को वोट देना और अगर बच्चे ऐसा न करें तो उन्हें सज़ा भोगनी होगी।” शायद ऐसा हो। पर जो समाज इतना बदल चुका हो कि वह अपने बच्चों को मत देने की अनुमति दे डाले, तो उसमें बच्चों पर दबाव डालने वाले लोग भी शायद कम ही होंगे। क्योंकि ऐसे समाज में अधिकांश लोग महसूस करेंगे कि यह एक बुरी और गलत चीज़ है। जो ऐसा करेंगे उन्हें सार्वजनिक निन्दा को भी झेलना होगा। और कम ही लोग इसे झेल पाते हैं। साथ ही बच्चा स्वयं यह महसूस करेगा कि उसे दूसरों का समर्थन प्राप्त है, अतः वह दबाव डालने वाले माता-पिता या किसी अन्य का विरोध भी कर सकेगा। स्नेही, सम्मान करने वाले माता-पिता को बच्चे पर अपने स्वाभाविक प्रभाव पर अधिक विश्वास होगा। अगर वह उनके विरुद्ध जाकर भी मत डाले तो शायद वे उसके साहस और स्वतंत्रता को भी मूल्यवान मानेंगे। पर अगर पारिवारिक रिश्ते खराब हों, और माता-पिता अपने बच्चे को प्रेम न करते हों, उसका सम्मान न करते हों, तो बच्चा उनका विरोध करने के लिए और अधिक तैयार होगा। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि आज भी कई लोग पहली बार मत डालते समय, और अक्सर काफी बाद तक भी, अपने माता-पिता की तरह ही मतदान करते हैं। हम राजनीति में शेष मसलों की ही तरह उन लोगों के कथन या उदाहरण से घनिष्ठ रूप से प्रभावित होते हैं जिन्हें हम प्यार करते हैं और जिन पर हमारा विश्वास होता है। ज़ाहिर है कि बच्चों के मत उनके माता-पिता से प्रभावित होंगे। और सम्भवतः उन माता-पिता का प्रभाव सबसे अधिक हो जो बुद्धिमान

हैं, सम्मान करना जानते हैं, और जिनमें गुणों, दयालुता और विवेक की स्वाभाविक सत्ता हो। ऐसे लोगों के प्रभाव को उनके बच्चों के मतों से बढ़ाने में हर्ज़ भी क्या है? कुछ लोग यह सवाल भी उठाते हैं कि क्या इससे उन लोगों का (यानी गरीब लोगों का) प्रभाव असंगत रूप से नहीं बढ़ जाएगा जिनके ढेरों बच्चे हों। यह सम्भावना अगर है भी तो कोई ऐसा जायज़ कारण नहीं जिसके चलते बच्चों और किशोरों को मताधिकार न दिया जाए।

कुछ लोग सिद्धान्ततः तो छोटी उम्र के लोगों को मताधिकार देने के पक्ष में हैं। यह उन्हें सही और न्यायपूर्ण भी लगता है। लेकिन वे मानते हैं कि इसकी कुछ योग्यता होनी चाहिए। किसी तरह की परीक्षा होनी चाहिए। सतही तौर पर यह बात उचित भी लगती है। अगर कोई मुझे यह विश्वास दिला सके कि किसी व्यक्ति की बुद्धिमत्ता, उसके विवेक को मापने का मुँह में थर्मामीटर डालकर बुखार नापने जैसा कोई पुख्ता तरीका है, तो कम से कम मैं इस बात की पैरवी करूँगा कि प्रत्येक मतदाता की बुद्धिमत्ता, उसके विवेक के स्तर को नापे बिना किसी को मताधिकार न मिले। पर ऐसी बहस पूर्णतः सैद्धान्तिक है। बुद्धिमत्ता, नापने का कोई ऐसा परीक्षण या उपाय है ही नहीं। न हो सकता है। अगर होता भी तो यह सुनिश्चित नहीं किया जा सकता कि वह पूरी ईमानदारी से लागू किया जाएगा, उसका दुरुपयोग नहीं होगा। हम समकालीन इतिहास के उदाहरणों से ही जानते हैं कि साक्षर होने को योग्यता मानने के नाम पर कई दक्षिणी राज्यों में असंख्य अश्वेत स्त्री-पुरुषों को मताधिकार नहीं दिया गया था। जबकि उनका ज्ञान और विवेक श्वेतों से पचास गुना अधिक रहा होगा। ऐसे गोरों ने जो मुश्किल से अपना नाम लिख पाते थे तमाम अश्वेत वकीलों और विश्वविद्यालय स्नातकों को अयोग्य घोषित कर दिया था। और इन पिछले चुनावों में भी देश भर में तमाम ऐसे उदाहरण सामने आए जिसमें स्थानीय चुनाव अधिकारियों ने कानून का खुला उल्लंघन किया, और विभिन्न कारणों से युवाओं को मतदान से रोका। जबकि यह अधिकार कानून और न्यायालयों ने उन्हें दे दिया था। कोई ऐसा कारगर उपाय ही नहीं है जिससे मतदान के स्तर को जाँचा जा सके। या यह सुनिश्चित किया जा सके कि वह जाँच न्यायपूर्ण ही होगी और उन लोगों के हित में इसका उपयोग नहीं किया जाएगा जो चुनावी मशीनरी को नियंत्रित कर रहे हों। उपाय एक ही है, मताधिकार चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देना। यह सुनिश्चित करने की चेष्टा करना कि सूचना तक उनकी पहुँच हो ताकि वे विवेक से मतदान कर सकें, और तब यह उम्मीद करना कि जो होगा अच्छा ही होगा।

18. काम करने का अधिकार

किसी भी आयु के बच्चे को पैसे के लिए काम करने का और उस कमाए गए पैसे को इस्तेमाल करने का, खर्चने या बचाने का अधिकार होना चाहिए। मताधिकार और अपनी शिक्षा-दीक्षा को स्वयं प्रबन्धित करने के अधिकार की ही तरह यह अधिकार भी स्वतंत्र है। बच्चों को वयस्कों के अन्य अधिकार न दिए जाने पर भी यह अधिकार दिया जा सकता है।

आज बालश्रम विरोधी कानून बच्चों को यह अधिकार नहीं देते। मताधिकार की ही तरह अगर काम करने की आयु सीमा घटाई भी जाती है, तो वह एक बार में एक-दो साल से अधिक नहीं होगी। और जिन कारणों की पहले चर्चा हो चुकी है उनके चलते उन समाजों के अलावा कहीं घटाई भी नहीं जाएगी जहाँ राजनैतिक और आर्थिक उपायों से गरीबी और बेरोजगारी खत्म न हो गई हो। शेष अधिकारों की ही तरह किसी भी उम्र के बच्चों और किशोरों को काम करने का अधिकार तब तक नहीं मिलेगा जब तक वे भारी संख्या में काम करने के अधिकार की पुरज़ोर माँग नहीं करेंगे। इसके लिए वे स्वयं मतदान करें और दूसरों की मदद से करवाएँ। न ही यह अधिकार तब तक दिया जाएगा जब तक बड़ी उम्र के लोग यह न मानने लगें कि छोटे भी बुद्धिमान, सक्षम और संजीदा हो सकते हैं, उनके साथ काम किया जा सकता है।

ज़ाहिर है कानून बदलने से पहले नज़रिया भी बदलना होगा।

ऐसे कई कारण हैं जिनके चलते कई बच्चे श्रम करना चाहेंगे और ऐसा कर पाना उनके लिए अच्छा और सही भी होगा। बच्चों को अपनी पसन्द की चीज़ें खरीदने के लिए या भविष्य के लिए पैसा बचाने के लिए कमाने की ज़रूरत या इच्छा होती है। हमारे जैसे उपभोगवादी समाज में पैसे का न होना व्यक्ति में अलगाव पैदा करता है, कमतर होने का भाव जगाता है। पैसे का होना बच्चे की ज़रूरत न भी हो तो भी यह आत्मसम्मान का मसला है। अमीर माता-पिता के बच्चे अब कई तरह से पैसे कमा पाते हैं। पर गरीब माता-पिता के बच्चों के सामने पैसे कमाने का कोई वैध या सम्मानजनक तरीका नहीं होता। यह एक महत्वपूर्ण कारण है जिसके चलते कई कम उम्र के बच्चे अपराध की दिशा में बढ़ते हैं - चोरी-चपाटी, जेब काटना, बटुए छीनना, हमला करना आदि-आदि। सम्भव है कि कुछ बच्चे या किशोर इसे एक साहसी कृत्य मानकर,

कौशल या दमखम की परीक्षा मानकर या साथियों पर रौब डालने के मकसद से भी अपराध करते हों। कुछ दूसरे घृणा के कारण या अपने जीवन के सूनेपन या पीड़ा की जगह दूसरों को डराने, उन पर हावी होने का सुख पाने के लिए ऐसा करते हों। सम्भव है इनमें से कई काम करने की बजाए चोरी करना ही पसन्द करें, और काम करने की अनुमति पाने के बावजूद चोरी ही करें। पर मेरा मानना है कि आज चोरी करने वाले ज़्यादातर गरीब बच्चे और किशोर वैध तरीकों से पैसा कमाना ही अधिक पसन्द करेंगे।

पचास के दशक में बड़े शहरों में बच्चों और किशोरों ने अपने गैंग बना डाले थे। ये सारे दल अपने-अपने इलाके की रक्षा करते थे और दूसरे गैंगों से लड़ते-भिड़ते रहते थे। गैंग गतिविधियाँ साठ के दशक में कुछ कम हुईं पर अब फिर से कई शहरों में भड़क रही हैं। इसने एक गम्भीर और भयानक समस्या का रूप ले लिया है। आज के गैंग पहले की तुलना में बड़े हैं। देसी हथियारों की जगह उनके पास असली बन्दूकें हैं और वे अधिकाधिक अपराधी और हिंसक बनते जा रहे हैं।

आज कोई नहीं जानता कि इस मामले में क्या कदम उठाए जाने चाहिए। शायद सबसे पहले हमें उन्हें बढ़ने का मौका देना चाहिए। पचास के दशक में इस समस्या पर लिखने वाले लोगों ने यह जानने की चेष्टा की थी कि वह क्या कारण है (मरने या बन्दी बनाए जाने के अलावा) जिसके चलते ये गैंग या उनके सदस्य अपना अपराधी गैंग जीवन छोड़ देते हैं? अधिकतर दृष्टान्तों में मिले उत्तर थे - नौकरी मिल जाना, पैसा होना, अपने परिवारों से अलग हो पाना, अपना खुद का घर बसा पाना, विवाह कर पाना और अपना निजी परिवार-संसार शुरू कर पाना। इससे भी आश्चर्यजनक बात यह सामने आई कि जब कोई सदस्य यह सब कर पाने लायक बड़ा हो जाता, तो गैंग के छोटे सदस्य उसे रोकते नहीं थे, जाने देते थे। मानो वे जानते हों कि गैंग जीवन लड़कपन की हरकत है जिसे अधिक गम्भीर और बड़ों-सा काम कर पाने का मौका मिलते ही त्याग देना चाहिए।

काम दरअसल एक अनूठा और साहसिक अभियान-सा होता है, दुनिया को तलाशने का एक नया तरीका होता है। कई लोग स्कूली कक्षा की ऊब और बोझिलपन का पक्ष यह कहते हुए लेते हैं कि हम बच्चों को सिखा रहे हैं कि काम क्या है। पर यह सिखाने के लिए स्कूली कक्षाओं को इतना नीरस बनाने की ज़रूरत ही क्या है, जबकि अधिकांश बच्चे यह जानना चाहते हैं कि काम क्या है और वे कुछ समय तक तो इसे कतई नीरस नहीं पाते हैं? कई बच्चे, अक्सर सबसे ज़्यादा खुराफाती और अनियंत्रित बच्चे, वास्तव में उपयोगी

बनना चाहते हैं, वे यह महसूस करना चाहते हैं कि उनके काम से कुछ अन्तर पड़ेगा। वास्तविक काम यह अहसास दिलाने का ही उपाय है। साथ ही काम उस रहस्यमय और आकर्षक दुनिया का हिस्सा है जिसमें वयस्क अपना अधिकतर समय लगाते हैं। जब बच्चे को वयस्कों के साथ काम करने का अवसर मिलता है, तो वह उनके एक नए ही रूप को देख पाता है और स्वयं को उनकी दुनिया का हिस्सा महसूस कर पाता है। उसे अपने भविष्य की भी एक झलक दिखती है। आखिर किसी दिन वह भी बड़ा होगा, ज़्यादातर समय काम करेगा। यह सब कैसा होगा, उस बारे में वह आज भी कुछ जान सकता है।

मैं एक बच्चे को जानता था जो अपने अच्छे और उदार स्कूल में बहुत खुश नहीं था। वह काम करने को आतुर रहता था। वह जानना चाहता था कि काम भला होता कैसा है। उसके कई दोस्त काम करते थे। उसे जो जेब खर्च मिलता, उससे ज़्यादा वह काम करके कमा सकता था। और यह कमाई दूसरी तरह से पाए रुपयों से कहीं अधिक उसकी अपनी भी होती। यद्यपि उसने कभी इस बारे में कुछ कहा नहीं, पर मुझे लगता है कि वह अंशतः इसलिए भी काम करना चाहता था कि वयस्कों के साथ उसका रिश्ता बदल सके। वह एक ही रिश्ते से परिचित था जहाँ वह ज़िम्मेदारीहीन और परनिर्भर था। वयस्कों ने उसकी देखभाल की थी, उसकी फिक्र की थी। कुछ वयस्क उसे पसन्द थे, तो कुछ नापसन्द भी थे। पर वह उनके इस दावे से खुद को बचा नहीं सकता था कि वे जो कहें वह उसे करना ही होगा, क्योंकि यह उसके भले के लिए ही तो था। पर अगर वह किसी दुकान में काम करता होता तो उसे कभी यह नहीं सुनना पड़ता। यह सही है कि उसे खरीददारों या मालिक की इच्छाओं के अधीन रहना होता। पर वह उनके लिए सच में कुछ करता भी। कितनी ही छोटी क्यों न हो, किसी प्रकार की सेवा वह ज़रूर दे सकता। और तो और वह किसी वास्तविक गतिविधि में अपनी ऊर्जा और कौशल को लगा रहा होता। दुकान का अस्तित्व इसलिए नहीं होता कि उसे बच्चे की मदद करनी है, बल्कि चीज़ें बेचने के लिए, सेवा मुहैया करवाने के लिए, पैसा कमाने के लिए ही वह दुकान मौजूद थी। दुकान में उसके कार्य प्रदर्शन का आकलन इन ठोस और समझ आने वाले लक्ष्यों के हिसाब से होता। हो सकता है कि उसे सुनना पड़ता, “कितनी बार बताना होगा कि यह चीज़ इसके साथ रखी जाती है” या “फटाफट पिछला कमरा साफ कर डालो!” या योग्य पाए जाने पर उसे सराहा जाता। पर ऐसे निर्देशों में कुछ अस्पष्ट नहीं होता जबकि उसे स्कूल में अस्पष्ट कारणों से लगातार मापा जाता रहा था। न जाने किन-किन कारणों से उसने स्कूल में लोगों को निराश किया था, या उसे सुनना पड़ा था कि उसका नज़रिया खराब

है। उसे कॉलेज में दाखिला ही नहीं मिल सकेगा, या वह सफल हो ही नहीं सकता। दुकान में अमूमन जो कुछ उसे करने को कहा जाएगा उसमें और दुकान के काम और सफलता में एक स्पष्ट और तात्कालिक सम्बन्ध होगा। और यह सब स्कूल से कितना भिन्न है जहाँ पीटर मरीन के शब्दों में “कृत्य व परिणाम के कृत्रिम कर्मकाण्ड” होते हैं। जहाँ अच्छा या बुरा वह होता है जिसे शिक्षक अच्छा या बुरा कह दे। जहाँ किसी चीज़ को करने का एकमात्र कारण होता है किसी अन्य द्वारा ऐसा करने को कहा जाना।

काम से दुनिया में अक्सर एक ऐसा अन्तर भी पड़ता है जो साफ नज़र आता है। वह भाग्यशाली और बिरला बच्चा, जो किसी चीज़ को बनाने या बढ़ाने में वयस्कों की मदद कर पाता है, आगामी तमाम सालों तक उस काम को याद रखता है, सोचता है “यह करने में मैंने मदद की थी।” काम अक्सर बच्चे की अधिकांश ताकत और कौशल की भी माँग करता है। काम करते समय बच्चा रोचक मशीनों या औज़ारों का उपयोग कर पाता है, जिन्हें वैसे उसे स्कूल में या बाहर छूने तक नहीं दिया जाता। जो बच्चा किसी वैक्यूम क्लीनर या मिक्सर या लॉन कटाई मशीन या ट्रैक्टर को चला सकने लायक हुआ ही हो और उस वक्त उसे इन उपकरणों के उपयोग का मौका मिले तो उसके लिए इससे अधिक उत्तेजक चीज़ और क्या होगी? कौन-से खिलौने इनकी तुलना में टिक सकेंगे? मैं एक आठ-नौ साल के लड़के को जानता हूँ जो घर में किसी को बिजली से चलाई जाने वाली घास कटाई मशीन का उपयोग करने ही नहीं देता। उसे मशीन को धकियाने में काफी ज़ोर लगाना पड़ता था। पर आखिर यह उसकी मशीन और उसका काम जो था। बाद में जब इसकी नवीनता खत्म हो गई तो मशीन से लॉन काटना भी एक ऐसा काम बन गया जिसे कभी-कभार ही करना पड़ता था। फिर भी कुछ समय तक वह काम उसकी जिन्दगी का सबसे उत्तेजक काम बना रहा।

समरहिल के ए.एस. नील समेत कई लोग यह भी कहते हैं कि बच्चों को काम करना पसन्द नहीं। और जब तक ज़बरदस्ती काम करने का दबाव न हो, वे खेलना ही पसन्द करेंगे। कई माता-पिता जो सालों से यह कोशिश करते रहे हैं कि बच्चे घरेलू कामों में हाथ बँटाएँ, वे भी इस कथन से सहमत होंगे। बेशक कुछ तरह के काम बच्चों को पसन्द नहीं आते और जब तक ज़ोर-ज़बरदस्ती न हो, वे ऐसे काम कतई न करें। पर ये सब ऐसे काम हैं - जैसे घरेलू काम - जिन्हें वास्तव में कोई भी करना पसन्द नहीं करता। एमएस मैगोजीन के कार्यक्रम “फ्री टू बी यू एण्ड मी” में कार्यक्रम संचालिका कैरल चैनिंग घरेलू काम पर एक मज़ाकिया गीत गाती हैं। गीत के साथ घरेलू काम करती हुई कई महिलाओं के चित्र टीवी पर दिखाए जाते हैं। वे हमेशा मुस्कराते हुए काम

करती दिखाई जाती हैं। पर कैरल बताती हैं कि काम करती महिलाएँ इसलिए नहीं मुस्कुराती हैं क्योंकि उन्हें ये तमाम काम अच्छे लगते हैं। बल्कि इसलिए क्योंकि वे अभिनेत्रियाँ हैं और उन्हें काम करने का *दिखावा* करने के लिए पैसे दिए जाते हैं। पर कोई भी घर के काम वास्तव में मुस्कराते हुए नहीं करता। इसलिए परिवार के हरेक सदस्य को - पुरुषों, महिलाओं, लड़कों, लड़कियों को - इसमें हाथ बँटाना चाहिए।

बच्चों और काम की बात करते वक्त एक समस्या आती है। वह यह कि काम से हमारा तात्पर्य क्या है, और किस तरह यह खेल से भिन्न है। कुछ लोग इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काम वह है जिसका कोई गम्भीर उद्देश्य होता है, जबकि खेल का नहीं होता। पर गम्भीर क्या है, यह कौन तय करता है? काम करने वाला या उसे देखने वाला? कुछ लोग पैसों के बदले खेलते हैं, या गाने-बजाने का काम करते हैं, दूसरे ऐसा नहीं करते। क्या पैसों के लिए काम करने वाले लोग अधिक गम्भीर होते हैं? मैं जब शौकिया टेनिस खेलता हूँ या चैलो वाद्य बजाता हूँ, तो उतना ही गम्भीर होता हूँ जितना उन कामों को करते समय जिनके लिए मुझे पैसे मिलते हैं। जिस व्यक्ति को नीरस, उबाऊ या खतरनाक काम करना पड़ता है वह शायद यह राय रखता हो कि आजीविका के लिए लिखने या संगीत बजाने वाले नहीं जानते कि वास्तविक काम क्या होता है। ज़ाहिर है तमाम ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें लोग काम कहते हैं, और जो दूसरे कामों की तुलना में अधिक रोचक, उत्तेजक और सुखद होती हैं। काफी हद तक जो काम बच्चों को पसन्द नहीं आते हैं वे किसी को भी पसन्द नहीं आते।

काम और खेल में अन्तर करते हुए नील कहते हैं कि बच्चे खेल को लेकर कल्पना कर सकते हैं, पर काम को लेकर नहीं। और क्योंकि उनके लिए यह काल्पनिक जीवन महत्वपूर्ण होता है, वे खेलना पसन्द करते हैं और काम करना नापसन्द। इस बात में कुछ सच्चाई ज़रूर है। आखिर बर्तन माँजने को लेकर कल्पना की उड़ानें भरना मुश्किल ही होगा। इसके विपरीत कोई किताब लिखते वक्त मैं उसके बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ कर पाता हूँ। सोचता हूँ कि उसकी सकारात्मक समीक्षाएँ छपेंगी, पाठक उसे पढ़ेंगे। शायद इससे उनके जीवन में कुछ अन्तर भी पड़ेगा। सच तो यह है कि अगर मैं यह कल्पना न कर सकूँ कि पुस्तक पूरी हो चुकी है, उसका अस्तित्व है, और वह पसन्द की गई है, तो मैं उसे लिख ही नहीं सकता। ऐसे में वह मेरे लिए वास्तविकता का रूप ही नहीं ले सकती। जिन शब्दों को कोई न पढ़े, उन पर कोई ध्यान ही न दे, तो टाइपराइटर पर उन शब्दों को धड़ाधड़ टंकित करना तो समय बर्बाद करना ही होगा। बहरहाल जो लोग कहते हैं कि बच्चे आलसी हैं और केवल

वे काम करेंगे जो आसान हों, और जब तक उन पर दबाव न डाला जाए कठिन काम करेंगे ही नहीं, वे गलत हैं। जब मैंने समरहिल में पहले-पहल वे गहरे गड्ढे और गुफाएँ देखीं जो बच्चों ने - छोटे बच्चों ने भी - खोदी थीं, तब मुझे अहसास हुआ कि इसके पीछे कोई गहन व गम्भीर उद्देश्य था। क्योंकि ऐसा करने में उन्होंने खूब मेहनत की थी, कौशल का उपयोग किया था और पूरी कटिबद्धता के साथ उसे पूरा किया था। उनमें से कई गुफाएँ तो सप्ताहों की मेहनत से खोदी गई थीं। लेकिन एक भी ऐसी नहीं थी जिसे हम तैयार गुफा कह पाते। अर्थात् बच्चे आगे भी उसमें मेहनत करने वाले थे।

कल्पना करना महत्वपूर्ण है। बच्चे ऐसी चीज़ें करना और बनाना पसन्द करते हैं जो उनकी कल्पनाशीलता को मुक्त और केन्द्रित कर पाएँ, जिनका वे अपनी कल्पना में, दिवास्वप्नों में, उपयोग कर सकें। परन्तु जिस बात को आज कुछ देश समझने लगे हैं, पर अमरीका में अब तक समझी नहीं जा सकी है, वह यह है कि बच्चे इस बात का विरोध करते हैं कि दूसरे लोग उनके लिए कल्पनाएँ कर लें। वयस्क सोचते हैं कि अगर वे ऐसा कुछ बना दें, मानो एक व्हेल मछली, तो बच्चे उसके साथ या उस पर सवार होकर ऐसे खेल खेलेंगे जो वे कल्पना में किसी असली व्हेल मछली के साथ खेलें। पर ऐसा नहीं है। एक तैयारशुदा व्हेल का उपयोग वे यह जानने के लिए ही करेंगे कि उसे तोड़ा कैसे जा सकता है। उनका यह उद्देश्य भी काफी गम्भीर है : पर क्योंकि ऐसी व्हेल अमूमन मज़बूत प्लास्टिक या स्टील व कांक्रीट से बनी होती है, और बच्चों के औज़ार बिलकुल आदिम होते हैं, ऐसे में तोड़-फोड़ का यह काम काफी कठिन बन जाता है। फिर भी आम तौर पर वे यह काम पूरा करने में सफल हो जाते हैं। नतीजतन खेल मैदानों में बनी व्हेल का जीवन काल संक्षिप्त रहता है। साहसिक व निर्माण खेल मैदानों में बच्चे लगातार कुछ न कुछ बनाते हैं। वे अपने आकार से काफी बड़े औज़ारों से, बड़ी ऊर्जा और निरन्तरता से आरी से काटते हैं, हथौड़ों से ठोकते या कीलें गाड़ते हैं। महत्वपूर्ण बात यह कि इन कामों पर उनका अपना नियंत्रण होता है। वे जो स्वयं चाहते हैं वह गढ़ते हैं और कैसे गढ़ना है यह भी स्वयं ही तय करते हैं। इस अर्थ में वे अनगढ़पन के बावजूद मज़दूर नहीं, कारीगर ही होते हैं। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि वे जो कुछ निर्मित करते हैं उसका एक काल्पनिक उद्देश्य भी होता है - वे जहाज़ या ऊँची मीनार, कोई होटल या गुप्त क्लब बना रहे होते हैं। उसमें तमाम रोमांचक घटनाएँ घटने वाली होती हैं, जो उनके दिमाग में अभी से घटने लगती हैं। ज़ाहिर है कि कल्पना तब अधिक कारगर हो जाती है जब उसको आकार देने के लिए कुछ वास्तविक काम भी हो। यही बात बेन रॉजर्स को उस वक्त पता चली थी जब वह अपना काल्पनिक भाप का जहाज़ चलाते हुए

सड़क पर चला जा रहा था और उसे एक वास्तविक पुताई की कूँची लिए टॉम सॉयर दिखा था।

हम बच्चों से जो छोटे-मोटे काम करने को कहते हैं उन्हें नापसन्द करने के उनके पास और भी कई कारण होते हैं। एक तो यह कि ये काम उन्हें अक्सर अकेले ही करने पड़ते हैं। जिन छोटे बच्चों को मैं जानता हूँ उन्हें अपने कमरे की सफाई अकेले करना नापसन्द था। पर मेरी या किसी दूसरे की मदद से वे इसे आसानी से कर डालते थे। हम उसका कोई खेल या स्पर्धा बना डालते। तब बच्चे खूब मेहनत करते और काम चुटकियों में खत्म हो जाता था। अगर कोई दूसरा भी उसमें उनका हाथ बँटाए तो बच्चे वे घरेलू काम खुशी-खुशी कर डालें जिनसे वे कतराते हैं।

हमारे द्वारा बताए या कहे गए काम नापसन्द करने का एक और कारण यह भी है कि उन्हें हमारा लक्ष्य बेमानी लगता है, या समझ नहीं आता। जब हम कूड़ा बाहर डालते हैं तो हम उसका कारण भी समझते हैं। अगर हम कूड़ा न फेंकें तो हमारा घर, हमारी रसोई कचरे से भर जाएगी। हम वह स्थिति न केवल मानसिक रूप से देख पाते हैं, बल्कि कचरे की दुर्गंध तक को सूँघ पाते हैं। इस अर्थ में हमारी कल्पनाशक्ति बच्चों की कल्पनाशक्ति से अधिक सक्रिय होती है। पर कचरे को लेकर बच्चे की ऐसी कल्पनाशक्ति नहीं होती। हम उससे पूछ सकते हैं, “अगर कचरा बाहर न डाला तो पता भी है क्या होगा?” पर बच्चे को इसका भान ही नहीं होता। मुझे लगता है वह शायद यह सोचता हो कि कूड़े की थैली पड़ी रहे, उसमें हर्ज़ भी क्या है? एक सामान्य अर्थविज्ञानी और *साइंस एण्ड सेनिटी* के लेखक एल्फ्रेड कोरज्येबस्की इंसान को काल बाँधने वाला (टाइम बाइण्डर) कहते थे। वे बड़ों और छोटों में एक अन्तर बताते हैं। उनके मुताबिक बड़े कई अर्थों में अधिक समय को बाँध सकते हैं। उन्हें यह बेहतर नज़र आता है कि जो हमने पहले किया वह हमारे आज के करने से कैसे जुड़ा है। और हम आज जो कर या नहीं कर रहे हैं वह भविष्य में कैसी स्थिति पैदा करेगा - हमारी कल्पना में कूड़े से भरा घर या ऐसा घर जिसके आँगन में तीन फीट ऊँची घास उगी है बड़ी आसानी से सजीव हो जाता है। इसी तरह हमारे कई काम बच्चों को समय की बर्बादी लग सकते हैं, पर हम उनका उद्देश्य समझते हैं। हम एक नन्हा पौधा रोपते हैं और कल्पना में उसे खूब बड़ा देख सकते हैं। वह कितना सुन्दर हो जाएगा, उसकी छाया का कितना सुख हमें मिलेगा, इसकी कल्पना भी कर सकते हैं। पर बच्चा ऐसी कल्पना भला कैसे कर सकता है? वह उसे रोपने में शायद हमारी मदद भी करे ताकि बाद में उसे देखकर सोचे कि उसे लगाने में उसने मदद की थी। पर एक बड़े वृक्ष की कल्पना करने में काफी समय लगता है।

हम बच्चों से जो काम करवाना चाहते हैं उनमें से अधिकांश काम बच्चों को अनन्त लगते हैं। कभी न पूरे होने वाले काम। और यह सच भी है, वे कभी खत्म नहीं होते। उन्हें बार-बार, फिर-फिर, करना पड़ता है। ऐसे में कई बार बच्चा सोच सकता है कि इसका अर्थ ही क्या है। मैं बिस्तर भला क्यों समेटूँ? आखिर रात को सोते समय तो वह फिर से बिखरेगा ही? सवाल बुरा नहीं है और इसका जवाब कम से कम मेरे पास तो नहीं है। किसी दूसरे के घर जाने पर मैं अपना बिस्तर इसलिए समेटता हूँ क्योंकि जानता हूँ कि अगर मैं यह नहीं करूँगा, तो कोई दूसरा उसे समेटेगा। और यह बोझ उन पर क्यों पड़े? पर यह क्यों करना चाहिए यह मुझे भी समझ नहीं आता। चादर को चारों ओर से दबाना, उस पर से सलें हटाना। किसलिए? यह दिखाने के लिए कि कोई उस पर कभी सोया नहीं है, जबकि हर रात उस बिस्तर पर कोई सोता है?

जिन कामों को हम बच्चों से करवाना चाहते हैं, उनमें से कुछ हमारी नज़र में निश्चित उद्देश्य लिए होते हैं। पर बच्चों के वे उद्देश्य हो ही नहीं सकते। मेरे पिता को बागवानी का शौक था; हमारे घर में हमेशा एक सब्जी का बाग हुआ करता था। मेरे दादा एक खेत पर पले थे, जहाँ उनका परिवार पीढ़ियों से रहता आया था। मेरे ताऊ उसे अब तक सँभालते थे। इसलिए ज़मीन से एक पारिवारिक जुड़ाव था। पर यह भावना ऐसी नहीं जिसे कोई बच्चा समझ सके या जिसका वज़न उसे महसूस हो। साथ ही बागवानी वह चीज़ थी जो उनके शहरी जीवन के विपरीत थी। और इस अर्थ में बागवानी उनके शहरी जीवन को सन्तुलन भी देती थी जिसे वे नापसन्द करते थे। वे तमाम लोगों की तरह एक ऐसे धन्धे में थे जिसमें वे उत्पादन तो करते थे पर किसी ऐसी वस्तु का नहीं जिसे वे देख या महसूस कर सकें। पर सब्ज़ियाँ बिलकुल ठोस थीं। आप बीज बोएँ, और कुछ चीज़ें करते रहें। कुछ समय बाद कुछ ऐसा उगेगा जिसे आप देख और खा सकते हैं। पर बच्चे के लिए इसमें से कोई भी चीज़ महत्वपूर्ण नहीं होती। उसके लिए दुनिया में कुछ भी अमूर्त नहीं होता। प्रत्येक वस्तु ठोस और मूर्त होती है। उसके लिए सब्जी दूसरी किसी वस्तु से अधिक चमत्कारिक नहीं है। अतः बागवानी का यह काम जो मेरे पिता के लिए कई प्रकार के अर्थ रखता, हम बच्चों को कभी न खत्म होने वाला और निरर्थक काम लगता था। आश्चर्य नहीं कि हम उसका हर सम्भव विरोध करते थे। शायद यही बात समरहिल के बच्चों के लिए भी कही जा सकती है। ये नील की बागवानी में कोई मदद करना नहीं चाहते थे। और उन्हें यह समझ ही नहीं आता था कि बागवानी के औज़ार गायब कर लेने पर नील इतना नाराज़ भला क्यों हो जाता था।

बगीचे और चीज़ें उगाने की चर्चा करते हुए मैंने वयस्कों के काम के विषय में

एक अधिक सामान्य उद्देश्य भी बताया है। इसे बच्चे न तो समझते हैं और न ही उन्हें इससे कोई सरोकार होता है। बच्चा दुनिया को वैसे ही स्वीकारता है जैसी वह है। उस दुनिया को तलाशने, उसे जानने, उसमें जीना सीखने का काफी काम उसके पास होता है। जब वह उसमें कोई बदलाव ला पाता है, उस पर कोई दृश्य छाप छोड़ता है तो उसे प्रसन्नता होती है। ऐसा करने का कोई दूसरा उपाय न हो तो वह दीवारों पर ही (अक्सर रोचक) इबारतें लिखता है या कांक्रीट व स्टील से बने खेल मैदानों को तोड़ता-फोड़ता है। उसे इसकी हड़बड़ी नहीं होती। उसे लगता है कि जीवन अनन्त काल तक उसके सामने पसरा हुआ है। हम जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, समय जल्दी बीतता-सा लगने लगता है। जीवन अधिक सीमाबद्ध और छोटा लगने लगता है। यह अहसास होने लगता है कि हम काल व अन्तरिक्ष की विशालता में या मानवता के समूचे जीवन की तुलना में कितने तुच्छ और क्षणिक हैं। और फिर हम एक आग्रहपूर्ण रफ्तार से दुनिया को बदलना चाहते हैं, ऐसी रफ्तार जिसकी बच्चों या किशोरों से उम्मीद ही नहीं की जा सकती। वह भले छोटी-सी ही क्यों न हो, लेकिन हम कोई छाप छोड़ना चाहते हैं, यह जताने के लिए कि किलरॉय की तरह हम भी यहाँ थे।

साथ ही मैंने, चाहे प्रकारान्तर से ही क्यों न हो, इस प्रकार के कामों का संकेत भी दिया है जो बच्चे करना पसन्द करते हैं। इसमें कुछ और जोड़ता हूँ। बच्चे ऐसा काम पसन्द करते हैं जिसमें उन्हें अपने हाथों से या किसी सामग्री से कुछ करना पड़े। यही रेत की आकृतियों का आंशिक रहस्य है। वे चीज़ें मिलाना पसन्द करते हैं, ताकि उनकी बनावट को महसूस कर सकें, उनके रंग देख सकें। वे उन्हें बदलता देखना भी पसन्द करते हैं। वे पानी को नियंत्रित करना, उसका उपयोग करना पसन्द करते हैं। पाइप से पानी पिलाना या डालना उन्हें हमेशा सुखद लगता है। तालाब या गड्ढे खोदना, पानी का रास्ता बदलना या उसमें बहाव को रोकना उन्हें अच्छा लगता है।

कई बच्चों को, खासकर जब वे छोटे हों, खाना पकाना पसन्द आता है। प्राथमिक शालाओं या कक्षाओं में पकाने की गतिविधि हमेशा बच्चों की मनपसन्द गतिविधि या कक्षा सिद्ध होती है। जितनी भी चीज़ों का उपयोग किया जाता है, शायद चिपचिपे अण्डों को छोड़कर (जो जल्दी ही कुछ दूसरी ही चीज़ में बदल जाते हैं), वे देखने में सुन्दर लगती हैं। उनकी सुगन्ध, उनका स्पर्श सुखद होता है। और फिर इसमें काफी बदलाव और जादू भी होता है। चीज़ पहले एक तरह की दिखती है, पर जल्दी ही कुछ और बन जाती है। यह सब कितना चमत्कारी होता है; बिस्कुट, केक या जो कुछ बनाया जा रहा है, ठीक बनेगा? पर बच्चे को पता होता है कि उसे अधिक इन्तज़ार नहीं करना

पड़ेगा। उसके श्रम का अन्तिम उत्पाद जल्दी ही सामने होगा। और जब वह उत्पाद सामने आता है, बच्चे को उसका उपयोग भी पता होता है। और वह उसे पसन्द भी होता है। शुरु से ही उसका उद्देश्य, उसकी दृष्टि काफी स्पष्ट होती है। उसकी समयावधि भी पक्की होती है। वह सोचता है मैं बिस्कुट बनाऊँगा और फिर उसे खाऊँगा।

पुताई का काम अच्छा है। पुताई के औज़ार भी बस में किए जा सकते हैं और इन्द्रियों को सन्तोष देने वाले होते हैं। दीवार के विरुद्ध कूँची के बालों के रगड़ खाने से अधिक सन्तोषजनक भला क्या होगा? रंग की बनावट गाढ़ी होती है और उसका एक निश्चित रंग होता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि आप देख सकते हैं कि काम की प्रगति क्या है, वह कैसा चल रहा है, कितना बाकी बचा है। कूँची का हर आघात उन्हें उपलब्धि के नए अहसास से भरता है। कूँची के साथ कल्पना भी की जा सकती है। जब कभी मैं कुछ रंगता हूँ, जिसके मौके कम ही आते हैं, मैं खुद से कहता हूँ, शाबाश! क्या खूब रंगा है!

अगर इस्तेमाल किए जाने वाले औज़ार अपरिचित या अनोखे हों, कुछ हद तक खतरनाक भी, और अगर उनमें कहीं आग या ताप का उपयोग करना पड़ता हो तो वे बच्चों को बेहद पसन्द आते हैं। कॉपनहेगन के बाहर, बागस्वैर्ड में स्थित न्ये लिलेस्कूल (न्यू लिटिल स्कूल) के बच्चे वैल्लिंग का काम करते हैं। इनमें सबसे बड़ों की आयु चौदह साल की होती है। जो कोई बच्चा करना चाहे उसे अनुमति दी जाती है। इस काम में बेहद उत्साह रखने वाले और सच में कुशल बच्चों की उम्र दस साल से कम है। उनमें से कम से कम एक तो उतना ही माहिर हो चुका है जितना उन्हें सिखाने वाला वयस्क है। यह स्कूल की सबसे लोकप्रिय गतिविधि है। किसी अमरीकी प्राथमिक शाला में वैल्लिंग के औज़ारों की कल्पना तक नहीं की जा सकती। और जब तक स्कूल अनिवार्य रहेंगे और इस कारण बच्चे के घायल या चोटिल होने पर कोर्ट-कचहरी के भय से ग्रस्त होंगे, यह बात समझ में भी आती है कि वैल्लिंग की गतिविधि वहाँ क्यों नहीं होती। पर जितना मैं जानता हूँ न्यू लिटिल स्कूल का एक भी बच्चा वैल्लिंग करते हुए घायल नहीं हुआ है। और सच तो यह है कि अगर हमारे सारे स्कूल वैल्लिंग की छूट दे दें तो भी उससे बच्चों को फुटबॉल खेलने से लगी चोटों से कम नुकसान ही पहुँचेगा।

कोई भी काम जिसमें बच्चे यह देख सकें कि वे क्या कर रहे हैं, कितना कर रहे हैं, कितनी अच्छी तरह से कर रहे हैं, उनके लिए अच्छा है। वैक्यूम क्लीनर को चलाना कुछ समय के लिए मज़ेदार होता है। पर जब मशीन चलाने की आदत पड़ जाए, तो उसमें आगे ज़्यादा कुछ नहीं बचता। कभी-कभार वैक्यूम से कोई कागज़ या रस्सी का निगलना देखना रोचक होता है। पर अधिकांश

समय यह पता ही नहीं चलता कि वैक्यूम से सफाई हुई है या नहीं। आपकी मेहनत से कोई अन्तर पड़ा है या नहीं। मेरे पिता के बाग में सबसे खराब काम था खरपतवार निकालने का। हमें वह अनन्त लगता था। और क्योंकि हम अपने पिता की इस कल्पना के भागीदार नहीं थे कि पूरा बगीचा विशाल खरपतवार में खो जाएगा, हमें वह उद्देश्यहीन भी लगता था। पर एक काम मुझे बेहद पसन्द था। कभी-कभार घास का कुछ हिस्सा खोदकर नई क्यारी बनानी पड़ती थी, या बगीचों की मिट्टी में खाद डालकर मिट्टी को उलट-पलट करना होता था। इसमें सचमुच दम लगाना पड़ता था। मुझे इसकी ज़रूरत भी समझ आती। काम करते समय मुझे उसकी प्रगति भी नज़र आती। हर खुरपी पर माटी की छाप दिखाई देती थी। मैं कह सकता था कि एक चौथाई, आधा या तीन चौथाई काम हो गया है और बचा हुआ हिस्सा भी इसी तरह होता जाएगा और - सफलता! - अन्ततः वह शेष हो जाएगा। इसी बात ने बाद में लॉन की घास की कटाई या खेत में घास कटाई को मेरे लिए रोचक बनाया। लॉन के कटे हुए हिस्से की तुलना में शेष हिस्से से कर सकता था। एक हिस्सा बढ़ता तो दूसरा घटता जाता। दोनों ही हिस्सों का आकार लगातार बदलता जाता था। और क्रमशः कटा हुआ भाग अनकटे को लील लेता। बच्चों को यह अच्छा लगता है। किसी लकड़ी को आरी से काटने या कुल्हाड़ी से फाड़ने में भी यही विशेषता है। यह काम भी कठिन होता है। आरी बड़ी धीरे-धीरे चलती है। काम करने वाले को बार-बार अपने दुखते हाथों को आराम देना पड़ता है। पर फिर भी काम करते वक्त वह आरी से बने गहरे कटाव को क्रमशः बढ़ते देखता है। उसमें से निकला बुरादा गवाही देता रहता है कि वास्तव में कुछ हो रहा है।

अगर किसी काम का समझा जा सकने वाला उद्देश्य हो, अगर उसमें ताकत और कौशल लगाने पड़ते हों, अगर वह अपनी मेहनत का नतीजा काम करते समय देख पाता हो, तो बच्चा बड़े कठिन काम करेगा और खत्म होने तक उसमें खुश रहेगा। महत्वपूर्ण यह है कि उसे ऐसा काम न दिया जाए जो उसे अनन्त लगे। इतना बड़ा न हो कि वह उसमें प्रगति को माप न सके, उसकी कल्पना ही न कर सके। इतना विशाल न हो कि तमाम मेहनत करने के बावजूद उसे लगे कि वह वहीं का वहीं खड़ा है। बहुत बड़ा काम ठीक वैसा है जैसा थाली में परोसा गया ढेर-सा खाना, जो कल्पना और भूख दोनों को ही मार देता है। वह यह सोच ही नहीं पाता कि वह कभी उसे पूरा कर पाएगा या खा पाएगा। सो शुरुआत करने का भला क्या फायदा? किसी किताब को शुरु करते समय मैं स्वयं भी ऐसी ही भावना से अटक-सा जाता हूँ। और तब मुझे काम करते रहने के तमाम तरीके सोचने पड़ते हैं, जब तक कि वह पुस्तक मेरी कल्पना में आकार न ले ले, वास्तविक नहीं बन जाए।

हम बच्चों से अपने लिए मदद माँगने या उनके पूछने पर हाँ कहने में अक्सर बड़ी देर करते हैं। बच्चे शायद उस उम्र में मदद करने की अनुमति चाहते हैं जब हम उन्हें खास मदद कर पाने लायक मानते ही नहीं। सम्भव है वे कालीन पर वैक्यूम क्लीनर चलाकर उसे साफ करने की बात करें। पर हमें मालूम होता है कि वे व्यवस्थित नहीं हैं। वे जगह-जगह इतनी गन्दगी छोड़ देंगे कि हमें फिर से सफाई करनी पड़ेगी। यह हमें झंझट की बात लगती है। खुद कर डालना अधिक आसान लगता है। पर शायद बुद्धिमानी इसी में है कि उन्हें तब से ही मदद करने दी जाए जब वे पूरी तरह मदद करने लायक न हुए हों। हम यह न सोचें कि क्योंकि उनके प्रयास अनगढ़ हैं, वे मदद करने को लेकर गम्भीर नहीं हैं। एक लड़के को मैं जानता हूँ, जिसने साढ़े तीन साल की उम्र में अपनी माँ को खाने की मेज़ सजाते देखा और उसकी मदद करनी चाही। उस दिन मेहमान आने वाले थे और वे अपनी पसन्दीदा प्लेटें सजा रही थीं। गिरने पर प्लेट टूट जाएगी सोचकर उन्होंने बेटे को पहले मना कर दिया। पर बच्चा ज़िद करता रहा। अन्ततः उन्होंने बात मान ली और उसे समझाया कि सावधानी से प्लेट कैसे उठाई और मेज़ पर लगाई जाती है। ना उस दिन, ना उसके बाद कभी उस लड़के ने एक भी प्लेट गिराई या तोड़ी। और वह अपनी माँ की कई तरह से मदद भी करता रहा है। पर हमेशा सब इतना आसान नहीं होता। सारे बच्चे एक ही तरह से मददगार नहीं होते। और सबसे मददगार बच्चे भी अक्सर बेहद ज़रूरत के समय हमेशा मदद देते भी नहीं हैं।

फिर भी मुझे लगता है कि जब भी बालक के मन में मदद करने, उपयोगी होने की इच्छा जगे, हमें उसका सम्मान करना चाहिए। उसे प्रोत्साहित करना चाहिए। क्योंकि अगर हम ऐसा नहीं करते तो हम उनके मन में यह भावना जगा सकते हैं कि हम उन पर विश्वास नहीं करते या वे मदद करने, उपयोगी बनने लायक ही नहीं हैं। या शायद हमें उनकी मदद चाहिए ही नहीं - अन्यथा जब उसने पहले मदद देनी चाही थी तो हमने मदद ली क्यों नहीं। वे यह भी सोच सकते हैं कि जो काम हम करवाना चाहते हैं वह दरअसल करने लायक है ही नहीं और वह केवल वयस्कों का खुद को व्यस्त रखने का एक शगल भर है।

अब तक बच्चों द्वारा वयस्कों की मदद के विषय में मैंने जो कुछ लिखा है वह मध्यवर्गीय परिवारों की बात है। गरीब और बड़े या संयुक्त परिवारों के बच्चे अक्सर छोटी उम्र से ही मदद करने के आदी हो जाते हैं। उनसे शुरू से ही छुटपुट काम करवाए जाते हैं। माता-पिता व्यस्त हों तो खाना या दवा लाने, छोटे-भाई बहनों की देखभाल करने के काम वे करते हैं। मेक्सिको में और (मेरा अनुमान है) अन्य अमरीकी शहरों में दो-तीन साल के बच्चों की देखरेख अक्सर

छह साल से कम उम्र के बच्चे ही करते हैं। क्या यह बुरा है? सम्भव है कि बड़े बच्चे को यह हमेशा ही करना पड़े, जैसा अक्सर होता है; उसे भी अपना समय मिलना चाहिए। पर अपने से छोटे भाई-बहनों की देखभाल बच्चे को नुकसान नहीं बल्कि लाभ ही पहुँचाती है। मैं जहाँ तक देख पाया हूँ, अपने से छोटे बच्चों की देखभाल करने वाले बच्चे काफी स्नेही, रोचक और जिम्मेदार साथी बनते हैं। वे जीवन्त और उत्साही होते हैं।

“परन्तु” कुछ लोग कहते हैं “अगर बच्चे पैसों के लिए काम करना चुन सकेंगे तो बालश्रम के भयावह दिन लौट आएँगे।” कई कारणों से इसकी सम्भावना कम ही दिखती है। और इसे रोकने के तमाम उपाय बच्चों से काम करने का अधिकार छीने बिना भी किए जा सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में जिन चीज़ों ने बालश्रम को इतना भयावह बनाया उनमें पहली तो यही थी कि बच्चों ने काम करने का चुनाव स्वयं नहीं किया था और ना ही वे इससे इंकार कर सकते थे। वे वास्तव में लगभग गुलाम ही होते थे जिन्हें उनके माता-पिता अपनी गरीबी और लाचारी के चलते काम में धकेलते थे। क्योंकि उनकी आय के बिना परिवार का गुज़ारा नहीं चलाया जा सकता था। वह अधभूखा बच्चा अगर श्रमिक न बनता तो वह भुखमरी का ही शिकार हो जाता। किन्तु अगर वह गुलाम था भी, तो उतना ही गुलाम जितने उसके माता-पिता थे। उनकी ही तरह उसके समक्ष भी कोई विकल्प नहीं थे कि वह अपने काम को चुन सकता। वह हर जगह की टोह लेकर, मोल-तोल कर अपने लिए उचित काम का इन्तज़ार नहीं कर सकता था। उसे जो काम जब भी, जहाँ भी दिया जाता स्वीकारना पड़ता था।

गरीबी ने बच्चे को गुलाम बनाया था और बालश्रम सम्बन्धी कानूनों से गरीबी में आई कमी ने उसे आज़ाद किया। हमारे समाज में आज उन्नीसवीं शताब्दी के बालश्रमिकों की तुलना में कम गरीब बच्चे हैं। यद्यपि ऐसा एक भी बच्चा हमारे समाज के माथे पर कलंक ही कहलाएगा, किन्तु जितने भी ऐसे गरीब बच्चे हैं, वे तमाम कानूनों के बावजूद अब भी उतना ही काम करते हैं जितना वे कर पाते हैं। उन्हें पैसों की दरकार है और अपनी मेहनत से वे जो कुछ भी कमाते हैं, वह उनके लिए अच्छा है। यह उनकी तात्कालिक और गहनतम ज़रूरतों को पूरा करता है। यह स्थिति उनके काम न करने की या किसी दूसरे द्वारा उनके लिए कुछ न कुछ करने की स्थिति से तो हर हाल में बेहतर है। उन्हें वैसे भी पर्याप्त या समुचित भोजन नहीं मिलता है। और अगर वे काम कर कमा नहीं पाएँ तो उन्हें अब जितना भोजन भी न मिले। निकट या दूरगामी दोनों ही दृष्टि से भोजन के अभाव की यह स्थिति उनके लिए स्कूली पढ़ाई से वंचित रहने से अधिक खराब होगी। उस स्थिति में भी जब वे स्कूलों में जितना बच्चे

आज सीखते हैं उससे बहुत अधिक सीखते, या उन्हें वहाँ सबकी मदद मिल पाती। संक्षेप में, बालश्रम कानून हमारे गरीबतम बच्चों को काम करने से रोककर उन पर कोई भारी उपकार नहीं करते।

बालश्रम को इतना भयावह बनाने वाली दूसरी बात थी - काम का स्वरूप। वे कठिन काम होते थे, और बच्चों से उनके सामर्थ्य और ताकत के परे माँग करते थे। चौदह या सोलह घण्टों का दिन उस वक्त कोई असामान्य बात नहीं थी। काम की परिस्थितियाँ अस्वास्थ्यकर और खतरनाक होती थीं। परन्तु ठीक यही परिस्थिति वयस्कों की भी थी। खदानें, मिलें, कारखाने वयस्कों के लिए भी पीड़ादायक हुआ करते थे। वे भी मशीनों से कुचले जाते थे, रसायनों की धूल से विषाक्त होते थे, दुर्घटनाओं में मरते थे। उनका स्वास्थ्य और ताकत निचुड़ जाती। न्यू यॉर्क की कपड़ा दुकानों में सिलाई का काम करने वाली महिलाएँ अक्सर अपनी दृष्टि खो देती थीं। एक भयानक आँकड़ा दिमाग को झकझोरता हुआ याद आ रहा है। पीटर ड्रकर नामक वित्तीय व औद्योगिक सलाहकार ने एक बार लिखा था कि जिन प्रवासी श्रमिकों ने हमारे रेलमार्ग बनाए थे उनका औसत कार्य-जीवन मात्र पाँच वर्ष का था। यह तथ्य स्टालिन द्वारा स्थापित गुलाम श्रम शिविरों के विनाशकारी प्रभाव के समतुल्य है, जिसको लेकर हम सब इतने नाराज़ रहे हैं। हमारी आधुनिक अर्थव्यवस्था, जिस पर हमें इतना नाज़ है, अन्य बड़े औद्योगिक देशों की ही तरह, उतनी ही इंसानी हड्डियों और खून की बुनियाद पर गढ़ी गई है जितना कि रूसी गणराज्य।

बच्चों के शोषण का अन्तिम कारण था अपने माता-पिता की तरह उन्हें भी काम का बहुत कम पारिश्रमिक मिलना। और क्योंकि परिवार के गुज़ारे के लिए एक-एक पाई की ज़रूरत पड़ती थी, वे अपनी कमाई का एक घेला भी अपने लिए रख या खर्च नहीं सकते थे।

यद्यपि आज भी हमारे देश में इतनी ढेर सारी और इतनी दुखद गरीबी है जितनी किसी सम्पन्न देश में होनी नहीं चाहिए, फिर भी इसकी उन्नीसवीं शताब्दी के औद्योगिक शहरों की गरीबी से तुलना नहीं की जा सकती। और जैसा कि मैं संकेत कर चुका हूँ जब तक हम आज की इस गरीबी को कम करने के उपाय नहीं तलाश पाते, बच्चों को काम करने का अधिकार देने की सम्भावना भी नहीं है। ऐसे समाज में जिसमें किसी को ऐसी भयानक गरीबी का डर न हो जो बालश्रम को जन्म देती है, लोग लम्बे-लम्बे घण्टों तक ऐसे काम करने पर मजबूर नहीं होंगे जो असम्मानजनक, विनाशकारी और खतरनाक हों। ना ही वे अपने बच्चों को ऐसे काम में झोंकेंगे। कुछ खान श्रमिकों और कम मज़दूरी पाने वाले खेत मज़दूरों को छोड़ दें तो आज ऐसे लोग कम ही हैं जो

पिछली शताब्दी में आम तौर पर पाई जाने वाली खराब स्थितियों में काम करते हों। उस तरह का काम आज *किसी के लिए* नहीं है, क्या वयस्क, क्या बच्चे। अतः इस बात से डरने का भी कोई कारण नहीं कि बच्चों को वैसी स्थितियों में वैसे काम करने पड़ेंगे।

फिर भी एक सम्भावना और बचती है, कि भय या अभाव के कारण नहीं बल्कि दूसरों का सा जीवन स्तर बनाने की जलन और लालच के कारण लोग अपने बच्चों को परिवार के लिए खटने पर मजबूर करें। कई परिवारों में पति दो नौकरियाँ करता है और शायद पत्नी भी काम करती है, ताकि रोज़-रोज़ टीवी पर दिखाई जा रही चीज़ों को खरीदा जा सके। या फिर इसलिए कि बच्चों को वह महँगी शिक्षा उपलब्ध करवाई जा सके जिसके सहारे समाज में उनके उच्चतर स्तर की उम्मीद बने। क्या ऐसे में वे अपने बच्चों से यह नहीं कहेंगे कि उन्हें भी इसमें सहयोग देना होगा? सम्भावना है ज़रूर। पर मेरा मानना है कि अधिकांश दृष्टान्तों में यह होगा नहीं। हमें एक ऐसे समाज के बारे में सोचना होगा जिसमें अधिकतर लोग बच्चों और किशोरों के अधिकारों तथा सम्मान के बारे में हमारी आज की सोच से कुछ अलग सोचें। सम्भव है कि तब भी कुछ बच्चे अपनी ज़रूरतों के लिए पैसे कमाना चाहें, पर उनके माता-पिता उनसे यह माँग करें कि उनकी कमाई परिवार की आय में शामिल हो। ये तमाम सवाल एक अधिक व्यापक प्रश्न की ओर ले जाते हैं: हम बच्चों के कुछ अधिकारों को कैसे बचाएँ, उनकी सुरक्षा कैसे करें या माता-पिता द्वारा डाले जाने वाले दबाव या ज़ोर ज़बरदस्ती से उन्हें बचाने में उनकी कैसे मदद करें? खास तौर से उस स्थिति में जब बच्चे घर से दूर रह पाने योग्य न हों, या रहना न चाहते हों।



19. सम्पत्ति का अधिकार

बच्चों को कम से कम कुछ चीज़ों पर स्वामित्व का अधिकार होना चाहिए। यह बात उस व्यापक अधिकार से भिन्न है जो किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण वित्तीय स्वतंत्रता और ज़िम्मेदारी देती है। इसमें सम्पत्ति की खरीद-फरोख्त करने, कर्ज़ लेने, अनुबन्ध करने या जो भी वित्तीय कार्य वयस्क वैध रूप से करते हैं उन्हें करने के अधिकार शामिल हैं। दरअसल यह सब भी मैं बच्चों के लिए चाहता। पर ज़ाहिर है कि एक लम्बे अर्से तक यह व्यापक अधिकार बच्चों को नहीं मिलेगा। पर इस बीच कानून बच्चों को, जो परतंत्र जीवन जीते हैं, पहले सम्पत्ति का अधिकार तो दे ही सकता है। अगर ये सीमित और व्यापक दोनों ही अधिकार उपलब्ध हों तो भी कई बच्चे सम्भवतः सीमित अधिकार पर ही दावा करें।

आज, जितना मैं जानता हूँ, कानून के हिसाब से नाबालिग बच्चे को किसी भी चीज़ पर स्वामित्व का अधिकार नहीं है। उसके पास जो भी चीज़ें हैं उनमें से अन्ततः कोई भी उसकी नहीं होती। हरेक वस्तु उसके माता-पिता की या अभिभावकों की होती है। वह उसकी केवल तभी होती है जब वे वह चीज़ उसे देना चाहें। उसके तन के कपड़े उसके माता-पिता के होते हैं, जिन्हें वे उठाकर फेंक सकते हैं, यद्यपि कानून उन पर कपड़े उपलब्ध करवाने की ज़िम्मेदारी भी डालता है। जो पैसा वह अपनी मेहनत से कमाता है, वह भी उसका नहीं होता। उसके नाम पर सम्पत्ति अलग रखी जा सकती है, जो उसे कानूनी रूप से बालिग होने पर मिले। पर उसे अभी और इसी वक्त किसी वस्तु का अधिकार नहीं होता।

आज कई उदार या उच्च आय वर्ग के परिवार ज़्यादातर समय यूँ आचरण करते हैं कि एक बार जो वस्तु बच्चे को दे दी गई है, जो उसने अपने कमाए, बचाए या उपहार में पाए पैसों से खरीदी है, वह उसकी है और उससे छीनी नहीं जा सकती। पर यह बात भी केवल एक सीमा तक ही सच होती है। अधिकांश बच्चे केवल छोटी-सी राशि ही अपने माता-पिता की अनुमति के बिना खर्च कर सकते हैं, फिर चाहे यह राशि उनके द्वारा ही कमाई गई क्यों न हो। वास्तविकता यह है कि माता-पिता को यह अधिकार है कि वे जब तक के लिए चाहें वह चीज़ छीन सकते हैं जो वे बच्चे को देना नहीं चाहते। ऐसा करने के पीछे सुरक्षा, सज़ा या कोई और भी कारण हो सकता है।

जब बच्चा पूछता है, “क्या मुझे फलॉ वस्तु मिल सकती है?” माता-पिता कह सकते हैं, “नहीं तुम उसके लिए बहुत छोटे हो, तुम्हें वह दरकार नहीं है, वह बहुत खतरनाक है, अच्छी नहीं है, कुछ ही दिनों में तुम उससे ऊब जाओगे, यह तो पैसों की बर्बादी है, तुम्हें यह सिर्फ इसलिए चाहिए कि दूसरों के पास भी वह है।” अक्सर ये आपत्तियाँ जायज़ भी होती हैं। पर जायज़ हों या नाजायज़, माता-पिता की मनमर्ज़ी अन्तिम होती है। ऐसे में बच्चों का सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार सिर्फ उन वस्तुओं पर स्वामित्व के अधिकार में तब्दील हो जाता है जिन पर माता-पिता सोचते हैं कि उसका अधिकार होना चाहिए।

मोटे तौर पर यह बात मुझे न तो विवेकपूर्ण लगती है, न न्यायपूर्ण। बच्चा जो वस्तु चाहता है उस पर स्वामित्व के अधिकार में, और माता-पिता, जो बच्चे को घर निकाला नहीं दे सकते, अपने घर में क्या रखना चाहते हैं, यह तय करने के अधिकार में टकराव सम्भव है। छोटे से घर में या ढेरों पड़ोसियों वाले बहुमंज़िला इमारत में रहने वाला बच्चा अगर ढोल या ऐसी ही शोर करने वाली किसी चीज़ को चाहता हो, तो माता-पिता को ना कहने का अधिकार होना चाहिए। अन्यथा, अगर वे शोर सहन नहीं कर सकते हों, या शोर से पड़ोसियों को दिक्कत हो तो मकान मालिक के साथ झगड़ा हो सकता है। इसकी ज़िम्मेदारी न तो बच्चे पर आएगी, न उसे इस नतीजे से निपटना ही पड़ेगा। ऐसे में यही न्यायोचित होगा कि जिसका मकान हो, या जिसने उसे किराए पर लिया हो, या जो उसके लिए ज़िम्मेदार हो, वही यह भी तय करे कि जो कुछ हो रहा है वह होना चाहिए या नहीं। यह नियम उस स्थिति में कठोर भी न हो अगर घर के बच्चों के पास दूसरे विकल्प हों। उन्हें ऐसे स्थान उपलब्ध हों जहाँ वे अपनी मर्ज़ी के काम कर सकें। किसी भी मानवीय समाज में ऐसे स्थान और विकल्प ज़रूर होंगे।

मैं प्रस्तावित करता हूँ कि यह सिद्धान्त कानून में शामिल हो जाए कि माता-पिता, रिश्तेदार, दोस्त, जो कुछ भी बच्चे को देते हैं, या वह जो कुछ भी अपनी मेहनत से कमाता है, वह उसका ही हो। वह उसे रख सकता है। जैसे चाहे उसका उपयोग कर सकता है, बशर्ते कि वह घर के नियमों का, पड़ोसियों की सुविधा-असुविधा का और समुदायों के नियमों का ख्याल रखे। ठीक उसी तरह जिस तरह वयस्क भी रखते हैं। पर उनसे अधिक भी नहीं। मसलन किसी भी उम्र के किसी व्यक्ति को यह अधिकार न हो कि वह रात को (दरअसल किसी भी वक्त) बिना साइलेंसर के मोटरसाइकिल या कार चलाए। पर जो लोग वयस्कों को किसी काम से नहीं रोक सकते, या रोकें तो कानून उनका साथ न दे, तो उन्हें बच्चों को उस काम से रोकने का अधिकार भी नहीं होना चाहिए।

इससे कुछ प्रश्न उठते हैं। यह हम कैसे तय करेंगे कि बच्चे की सम्पत्ति क्या है? अगर वह कुछ कमाता है, तो ज़ाहिर है कि वह उसी का है। अगर उसे किसी से उपहार मिलता है तो वह उसका है। पर उसके कमरे के सामान का क्या? क्या वह उसे बेच या बदल सकता है? मैं कहूँगा नहीं। जब तक कि उसके माता-पिता भी सहमत न हों। और उसके कपड़े? बढ़ते बच्चों को कपड़े उपलब्ध करवाना काफी खर्चीला काम होता है। किसी भी प्रकार के कपड़े बच्चे को दे दिए जाने पर क्या वे स्थाई रूप से बच्चे के ही हो जाते हैं, या कि वे चाहें या ऊब जाएँ तो उन्हें बेच डालें? मैं कहूँगा कि जिन परिवारों में अभाव है, वहाँ नहीं। उसे कपड़े उपयोग करने के लिए दिए जाते हैं, वैसे ही जैसे उसके कमरे का सामान है। उन पर परिवार के दूसरे सदस्यों, उसके भाई बहनों का भी दावा होता है। उसे ऐसा कुछ बेच डालने का अधिकार नहीं होना चाहिए जिसे फिर से उपलब्ध करवाने की नैतिक या कानूनी ज़िम्मेदारी उसके माता-पिता की हो। और फिर जब उसके कपड़े छोटे हो जाते हैं, या जिन्हें वह पहनना नहीं चाहता तो माता-पिता को यह अधिकार होना चाहिए, जैसा अब भी है, कि वे उसका दूसरा उपयोग कर सकें। यही बात स्कूल के लिए खरीदी गई सामग्री पर भी लागू होती है। जो चीज़ें माता-पिता द्वारा बच्चे के जीवनयापन के लिए खरीदी जाती हैं, वे अन्ततः उनकी ही होनी चाहिए ताकि जब वह उनका उपयोग नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता, तो वे उसका उचित निस्तारण कर सकें।

अगर कोई परिवार अपनी छोटी सी आय में से बालक को एक साइकिल उपलब्ध करवाए ताकि वह स्कूल जा सके, अपने साथियों के साथ खेल सके या अखबार बेचने जा सके, तो यह उचित न होगा कि वह दूसरी वस्तु को खरीदने के लिए साइकिल ही बेच डाले।

खिलौने कुछ मुश्किल में डालते हैं क्योंकि वे अधिक व्यक्तिगत होते हैं। जिस बच्चे को किसी खास खिलौने से मोह हो जाए, उसे रखने का अधिकार बच्चे का होना चाहिए, उस स्थिति में भी जब माता-पिता को यह लगता हो कि वह उसके लिए बड़ा हो चुका है या परिवार के किसी छोटे बच्चे के लिए उसकी ज़रूरत है। मैं एक बच्चे को जानता हूँ जो फिलहाल ग्यारह वर्ष का हो चुका है। उसके पास हर आकार के कोआला भालुओं का संकलन है। छुटपन से ही उसे इसी जानवर के खिलौनों से प्यार था। दूसरे किसी भी प्रकार के पशु-खिलौनों से कोआला भालू ही उसे अधिक प्यारे लगते थे। उन्हीं में उसकी रुचि रही है। ये भालू उसके लिए महत्वपूर्ण हैं। वह उनका ध्यान रखता है। उनके साथ सोना पसन्द करता है। हाल ही में उसकी माँ ने जानना चाहा कि क्या बड़े हो जाने पर और घर छोड़कर अपने घर में अपने परिवार के साथ रहने पर

भी वह उतने ही भालू रखेगा? उसका जवाब था, “शायद तब मेरे पास और भी ज़्यादा भालू होंगे।” अब इस बच्चे को तो अपने भालू तब तक रखने का अधिकार होना ही चाहिए जब तक वह उन्हें रखना चाहे।

हम यह कहें, और कानून में दर्ज कर लें, कि जो कुछ एक बच्चा खुद कमाता है या अपनी कमाई से खरीदता है या जो उसे दिया जाता है या भेंट में मिलता है, वह उसी की सम्पत्ति है। फिर चाहे वह उसका उपयोग करे या उसे उचित लगे तो किसी को दे दे या बेच डाले।

20. यात्रा का अधिकार

बच्चों तथा किशोरों को माता-पिता की अनुमति के बगैर यात्रा करने का और घर से दूर रहने का अधिकार होना चाहिए। अब तक चर्चित कई अधिकारों की तरह यह अधिकार अपने आप खड़ा नहीं रह सकता। अगर स्वामित्व का, कमाने का या किसी दूसरे तरीके से रुपए पाने का अधिकार न हो तो कम उम्र के लोग घर से ज़्यादा दूर की यात्रा नहीं कर सकते या लम्बे समय तक घर से दूर नहीं रह सकते। साथ ही जब तक वे स्वयं के लिए वित्तीय और कानूनी रूप से ज़िम्मेदार न हो जाएँ, तब तक ऐसा कर भी नहीं सकते। क्योंकि ऐसे में हमें बच्चों और किशोरों के कृत्यों के लिए किसी दूसरे को ज़िम्मेदार ठहराना होगा, जो उन बच्चों की न तो देखरेख कर सकते हैं, न ही उन्हें नियंत्रित कर सकते हैं। मैंने इन दूसरे अधिकारों की अन्य स्थानों पर चर्चा की है। पर यहाँ मैं केवल यात्रा के अधिकार की चर्चा करना चाहूँगा।

अधिकांश कम उम्र के लोग यात्रा करना पसन्द करते हैं। उन्हें जोखिम पसन्द है। और अधिकांश लोगों के लिए आज के ज़माने में जो गिने-चुने जोखिम भरे कारनामे बचे हैं, यात्रा करना उनमें से एक है। दुनिया के बारे में ऐसा बहुत कुछ जानने का यह एक बढ़िया तरीका है जो किताबों में नहीं पाया जाता। साथ ही किसी ऐसे अपरिचित समुदाय में जीना जहाँ की भाषा तक आप न जानते हों, आपकी चतुराई और बुद्धिमानी को भी जाँचता है।

बच्चों और किशोरों को अगर अनुमति होती तो वे कहीं जल्दी और ज़्यादा यात्राएँ करते। तमाम परेशानियों और कानूनों के बावजूद कई बच्चे ऐसा करते भी हैं। ज़्यादातर अमरीकी राज्यों में हिच-हाइकिंग (वाहनों को रोककर वाहन चालकों से कुछ दूर साथ ले जाने का अनुरोध कर अपने गन्तव्य की ओर जाना) गैर-कानूनी है। कुछ अमरीकी राज्य यह कानून सख्ती से लागू करते हैं और हिच-हाइकिंग करने वालों के साथ-साथ उन चालकों को वित्तीय दण्ड भी देते हैं जो यूँ राह चलते किसी को अपने वाहनों में बिठा लेते हैं। इसके बावजूद युवा ऐसा करते हैं, यद्यपि वे अपने साथियों को यह सलाह भी देते हैं कि उन्हें ऐसे राज्यों से दूर रहना चाहिए जहाँ यह कानून कठोरता से लागू होता है। हिच-हाइकिंग के खतरों के बारे में, खासकर अगर यात्री लड़कियाँ हों तो उन

पर होने वाले हमलों या उनकी हत्याओं के खतरों के बारे में खूब शोर किया जाता है। यह सच है कि यदा-कदा ऐसा होता है। पर हिच-हाइकिंग से होने वाली मौतों की तुलना साधारण वाहन दुर्घटनाओं में होने वाली मौतों से करें तो वे बिरली लगती हैं। हिच-हाइकिंग विरोधी कानूनों का कारण, खासकर जिन राज्यों में पर्यटन बड़ा धन्धा है, लोगों को आहत होने से या मारे जाने से बचाने का उतना नहीं लगता। मुख्य कारण तो उन लोगों को यात्रा करने से रोकना या राज्यों से बाहर रखना लगता है जिनके पास पैसे नहीं हैं। ऐसे लोगों को रोकना जिन्हें “बम” या “हिप्पी” की उपाधि दी जाती है।

हिच-हाइकिंग यूरोप की सैर करने वालों का एक लोकप्रिय तरीका है या था। दक्षिण-यूरोपीय देशों में महिलाओं के प्रति पुरुषों के परम्परागत दृष्टिकोण के चलते, युवा महिलाओं का वहाँ अकेले या दूसरी महिलाओं के साथ हिच-हाइकिंग करना ठीक नहीं है। परन्तु उत्तरी यूरोप में कोई भी अकेली महिला सुरक्षित रूप से हिच हाइकिंग कर सकती है। यह तो सब समझते हैं कि यात्रा करना युवाओं के लिए अच्छा है। नए-नए स्थान देखना, घूमना-फिरना अच्छा है, जब तक वे यात्रा कर सकते हैं। पर अगर इसमें बहुत खर्चा आता हो तो वे ऐसा नहीं कर सकते। किन्तु जैसे-जैसे पर्यटन बड़ा व्यवसाय बनता जा रहा है, जिससे लोगों की यात्रियों के माध्यम से अधिकाधिक कमाई होती है, लोग गरीब यात्रियों को नापसन्द करने लगे हैं। ऐसे में सम्भव है कि यूरोपीय देश भी युवाओं के लिए यात्रा करना और कठिन बना डालें। पर यह शायद आगे की बात है।

युवा यात्रियों के प्रति पूर्वाग्रह इस भय से होता है कि वे नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं। कुछ इसलिए भी कि वे बड़े विचित्र लगते हैं। पर अधिकांश पूर्वाग्रह उस समाज के हैं जो धड़ाधड़ पैसे खर्चता है, “अभी खरीदो, कीमत बाद में चुकाओ” के दर्शन में विश्वास करता है। ऐसे समाज को वे लोग पसन्द नहीं आते जिन्हें ढेर सारी चीजों की न तो ज़रूरत है, न कामना ही, जो अनावश्यक खरीददारी नहीं करते। एक स्की कस्बा कई वर्षों से उन युवाओं में लोकप्रिय है जो पीठ पर सामान लादे पहाड़ी इलाकों की सैर करने जाते हैं। इनमें से कई युवक-युवतियाँ वास्तव में गरीब नहीं हैं। वे कॉलेजों के छात्र-छात्राएँ हैं जिनके पास बढ़िया साइकिलें और कैम्पिंग का सामान होता है। पर इन साइकिलों से स्थानीय पेट्रोल पम्प की कोई कमाई नहीं होती। और पीठ पर लदे सामान का मतलब होता है कि यात्री अधिकांश समय जहाँ कहीं भी तम्बू गाड़कर सो जाएँगे और पच्चीस डॉलर वाले होटल पर धेला भी नहीं खर्चेंगे। इसलिए व्यापारी और दुकानदार शिकायत करते हैं कि युवक-युवतियाँ उनके शहर को

बर्बाद कर रहे हैं, उनसे धन्धे को नुकसान होता है। इसीलिए पैसा खर्चने वाले यात्री वहाँ नहीं आते। क्या उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं किया जा सकता? कई साल पहले मैं कॉलोरेडो में पढ़ता था। एक बार गर्मियों में मैं अपनी पुरानी गाड़ी से पूर्व की ओर चल पड़ा। मैं बिना रुके सीधे बढ़ता रहा। थकने पर गाड़ी में ही सो भी जाता था। एक रात जब मैं न्यू यॉर्क हाइवे पर रॉचेस्टर के आस-पास था, मुझे तेज़ नींद आने लगी। ज़ाहिरा तौर पर ऐसे में गाड़ी चलाना खतरनाक था। सो मैं रुकने की जगह ढूँढने लगा। कहीं भी कोई आराम स्थल या छोटी सड़क नज़र नहीं आ रही थी। एक जगह सड़क के पास ही घास का टुकड़ा दिखाई पड़ा। मैंने सड़क छोड़ दी। गाड़ी नीचे उतारी। बाहर निकला और घास पर पसर गया। पर जल्दी ही चौककर जगा क्योंकि आँखों पर तेज़ रोशनी पड़ रही थी। वह एक पुलिस वाला था। उसने पूछा कि मैं उस जगह क्या कर रहा हूँ। मैंने बताया कि मैं यहाँ से गुज़र रहा था और तेज़ नींद के कारण आराम करने को रुक गया हूँ। उसने बड़ी सख्ती से कहा कि मैं सड़क किनारे सो नहीं सकता। यह कहने का कोई कारण नहीं था। रात के तीन बजे थे। सड़क पर यातायात लगभग बन्द था। और वैसे भी मैं सड़क से लगभग डेढ़ सौ फीट दूर था। मैंने फिर से कहा कि अगर मैं गाड़ी चलाऊँ तो झपकी आने का खतरा है। उसने और भी कड़ाई से कहा, “सोना है तो किसी मोटल में जाकर सोओ!” इस कथन से बात स्पष्ट हो गई। वह स्थानीय मोटल मालिकों के लिए धन्धा पटाने में लगा हुआ था।

दरअसल हमें यूरोप में पाए जाने वाले कैम्प शिविरों जैसे स्थल दरकार हैं जहाँ अपनी गाड़ी से यात्रा करने वाले या हिच-हाइक करने वाले यात्री रात बिता सकें। ये शिविर स्थल बहुत रमणीय नहीं होते। और तम्बु खचाखच भरे होते हैं। पर ये रात बिताने की सस्ती जगह तो उपलब्ध करवाते हैं ताकि कम पैसों वाले यात्री भी यूरोप दर्शन कर सकें।

हम ऐसे उपाय भी कर सकते हैं जिससे हिच-हाइकिंग आसान और अधिक सुरक्षित बने। अक्सर नौजवान ऐसे स्थानों पर वाहनों को रोकने की कोशिश करते हैं जहाँ गाड़ी रोकने से दुर्घटना की सम्भावना हो। किन्तु अगर हिच-हाइकिंग कानूनी हो तो उसके लिए सुरक्षित स्थान बनाए जा सकते हैं। आज भी कॉलेजों और युवा वर्ग के सम्मेलन स्थलों के नोटिस बोर्डों पर कहीं जाना चाहने वाले या दूसरों को ले जा सकने वाले तमाम लोग अपनी सूचनाएँ लगाते हैं। एक कॉलेज में तो अमरीका का बड़ा-सा नक्शा है। इसमें प्रत्येक राज्य को रेखाओं में दर्शाया गया है और राज्यों के बड़े शहरों के नीचे हुक लगा हुआ है। जो भी किसी शहर में वाहन से जाना चाहता है, वह अपनी यात्रा तिथि और

जितने लोगों को वह साथ ले जा सकता है, सम्पर्क का तरीका क्या है आदि सूचनाएँ उपयुक्त हुक पर लटका देता है। परन्तु सूचना का यह आदान-प्रदान उन्हीं कॉलेजों या स्थलों में हो पाता है जहाँ छात्र-छात्राएँ जाते हैं। हमें ऐसी ही किसी चीज़ की आवश्यकता उन छोटे या बड़े लोगों के लिए भी है जो छात्र-छात्राएँ न हों। देश के कई भागों में अब शिक्षण आदान-प्रदान केन्द्र उभरने लगे हैं जहाँ लोग सूचनाएँ और कौशलों का आदान-प्रदान कर सकें। शायद यह सम्भव हो कि यात्रा सम्बन्धी सूचनाओं के आदान-प्रदान का कोई तरीका भी ढूँढ लिया जाए।

यात्रियों को रुकने और आराम करने के लिए सस्ते स्थान भी दरकार हैं। यूरोप में तमाम युवा-छात्रावास (यूथ हॉस्टल) हैं। 1953 में मैंने पेरिस से रोम तक की डेढ़ हज़ार मील लम्बी साइकिल यात्रा की। मैं उन्हीं हॉस्टलों में रुका करता था जहाँ मुझे हर रात के लिए सिर्फ पच्चीस सेंट या बेहतर स्थानों पर इससे कुछ ही अधिक खर्चना पड़ता। जो देश अपने हर उम्र के ऐसे नागरिकों के लिए भी यात्रा करना आसान बनाना चाहे जिनके पास खर्चने को अधिक पैसे न हों, वह देश ऐसे सामान्य स्थान भी निर्मित कर सकता है जहाँ यात्री अपना स्लीपिंग बैग, कम्बल, दरी आदि बिछाकर रात भर रुक सकता हो, और सुबह नहा धोकर आगे बढ़ सकता हो। 1953 में कई इतालवी रेलवे स्टेशनों पर एलबर्गो दियूर्नो अर्थात् दिवा होटल होते थे। वे यात्रियों के लिए एक वरदान थे। खासकर गर्मियों में। वहाँ लोग बैठ सकते थे, आराम कर सकते थे, नहा-धो सकते थे, वहाँ बिस्तर और पलंग भी होते थे जहाँ आप एक घण्टा या रात आराम से सो सकते थे। मैंने कनाडा में एडमन्टन में, एमस्टरडैम में, कोपनहेगन आदि के हवाई अड्डों में भी ऐसे स्थान देखे हैं। वहाँ भी शुल्क लिया जाता था। पर वह शुल्क किसी भी होटल से काफी कम होता था।

अगर बच्चे बिना अपने माता-पिता की अनुमति के यात्रा कर सकते तो क्या उनके खो जाने का खतरा नहीं है? जी हाँ, यह सम्भव है। वयस्क भी खो जाते हैं। यह एक सिरदर्द ज़रूर हो सकता है पर त्रासदी या आपदा नहीं, जब तक कि बच्चे को यह मालूम हो कि उसे अपने घर या मित्रों से कैसे सम्पर्क करना है। या यदि उसके पास अपना नाम, पता-ठिकाना हो तो कुछ समय के लिए खो जाने या भ्रमित होने से खास नुकसान नहीं होगा। सम्भव है कि कुछ लोग पूछें कि अगर बच्चे को घर या मित्रों से सम्पर्क करना ही न आता हो, तो क्या होगा? इस बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि जो बच्चा बिना पर्याप्त जानकारी के घर से दूर निकलेगा वह वैसे भी इतना दुस्साहसी और बेवकूफ होगा कि उसे कानून या उसके माता-पिता भी परेशानियों में फँसने से बचा

नहीं सकते। वैसे भी मेरा प्रस्ताव है कि सरकार विकल्प उपलब्ध करवाए। यह सुनिश्चित करने का तो कोई उपाय ही नहीं है कि एक बार विकल्प चुनने के बाद कोई गड़बड़ नहीं होगी। हमें यह भी सोचना होगा कि हमारे द्वारा कल्पित ऐसे दुस्साहसी बच्चे के पास यात्रा लायक पैसे कहाँ से आएँगे या वह बस या जहाज़ का टिकट खरीदने कैसे पहुँचेगा।

आज भी यात्रा करने वाले कई वयस्क यात्रा की इच्छा रखने वाले अधिकांश बच्चों से अधिक लाचार होते हैं। मैंने जहाज़ों में पूरी तरह लकवाग्रस्त यात्रियों को देखा है। इन्हें कोई दूसरा व्हील चेयर पर बिठाकर ले जाता है। या जिन्हें अंग्रेज़ी भाषा नहीं आती, या जो अन्धे हैं। वे बिना दूसरों की मदद के यात्रा नहीं कर सकते। पर हम उनके लिए यात्रा करना प्रतिबन्धित तो नहीं करते। बल्कि उन्हें जो मदद चाहिए उसे आसानी से उपलब्ध करवाने की व्यवस्था करते हैं। हम उन्हें अनिवार्य सहायकों के ज़िम्मे भी सुपुर्द नहीं कर देते। दुनिया एक बहुत बड़ी, विविध, विचित्र और भ्रमित करने वाली जगह है। इस तथ्य को हम बदल नहीं सकते। बेहतर संकेतों, नक्शों, सूचना स्रोतों के ज़रिए हम हर उम्र के यात्री के लिए उनके अपने शहर में तो यात्रा को अधिक सुविधाजनक और आसान बना सकते हैं। हमारे समाज को इतना अपारदर्शी बनाए रखने की ज़रूरत भी नहीं जितना वह आज है। पर हम बच्चे के लिए पूरी दुनिया को उसके घर या मुहल्ले की तरह निरापद भी नहीं बना सकते। पर यही कठिनाई ही तो यात्रा का मकसद भी है। माता-पिता के आग्रह के बावजूद कई बच्चे, कहीं दूर जाकर, घूमने-फिरने या किसी रिश्तेदार से मिलने जाने में कतराते हैं। वे शायद साफ-साफ इंकार करें। ऐसे बच्चों को घर ही रहना चाहिए। और वे वहीं रहेंगे भी। वहाँ बिना माता-पिता की अनुमति के यात्रा करने के अधिकार का प्रश्न भी नहीं उठेगा। उन्हें कोई यात्रा पर भेज ही नहीं सकेगा।

कुछ लोगों को यह भी लग सकता है कि माता-पिता की अनुमति के बिना बच्चों को यात्रा करने का अधिकार देने का मतलब होगा माता-पिता की सत्ता को कमज़ोर बनाना। पर शायद हमें एक बार फिर से अधिक कौशल, ज्ञान, अनुभव, साहस, कटिबद्धता या सरोकार पर टिकी स्वाभाविक सत्ता और उस सत्ता में अन्तर करना पड़ेगा जो केवल दबाव, धमकी, सज़ा या पीड़ित करने पर टिकी होती है। मैं यहाँ जो कुछ प्रस्तावित कर रहा हूँ उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो बच्चे पर माता-पिता या छोटों पर बड़ों की स्वाभाविक सत्ता को डिगा सके। बल्कि इससे स्वाभाविक सत्ता और बलवती ही होगी।

बच्चे इस स्वाभाविक सत्ता के प्रति उदासीन नहीं होते। बल्कि इससे उन्हें

दुनिया में अपने स्थान का आभास होता है। उन्हें वह आधार मिलता है जिसके सहारे वे दुनिया में उत्तरोत्तर बड़े वृत्तों में घूम पाते हैं। इस सत्ता पर उनका विश्वास और उसकी ज़रूरत काफी मज़बूत, लचीली और स्थाईत्व लिए होती है। अक्सर जब माता-पिता बच्चे को दण्ड देते हैं, या चपत भी जड़ देते हैं तो वह पीड़ित और नाराज़ होता है। कुछ समय तक उनसे दूरी भी बना लेता है। पर यह नाराज़गी देर तक नहीं रहती। वह कुछ समय बाद दोस्ती की पहल करता है और अक्सर बच्चा ही यह पहल करता है। शायद यह बेहतर भी है कि पहल उसी की ओर से हो, ताकि उसे खुद ही पहल का निर्णय लेने का समय मिले। हमें अपने पश्चाताप (अगर हमें उसका अनुभव हो तो) को उस पर बहुत जल्दी नहीं लादना चाहिए। बच्चा अगर छोटा है तो जल्दी ही, और बड़ा है तो शायद कुछ देर से सुलह की ओर बढ़ता है। समझदार और स्नेही माता-पिता खुले हाथों से इसका स्वागत करते हैं, और उसी उदारता से इस पहल को स्वीकारते हैं। अन्य माता-पिता फिर भी अड़े रहते हैं। वे बच्चे से पश्चाताप की माँग करते हैं, उससे मंशा का प्रमाण चाहते हैं। यह बड़ी भारी गलती है। पर कई माता-पिता यह गलती कई-कई बार कर सकते हैं। बच्चे की ओर से की गई सुलह की कोशिश को वे तब तक ठुकराते हैं जब तक वह भारी मन से यह तय न कर ले कि दोस्ती की कोशिशें ही फ़िज़ूल हैं क्योंकि उन्हें कोई स्वीकारेगा ही नहीं। अतः बेहतरी इसी में है कि किसी भी परेशानी से बचो।

मान लें कि कोई बच्चा यात्रा करना चाहता है और उसके माता-पिता उसे जाने नहीं देना चाहते। हमें एक समूचे जीवन्त परिवार की कल्पना करनी होगी। बच्चा अचानक एक दिन कहता है कि वह घूमना चाहता है। अगर इस परिवार में पारस्परिक प्रेम और एक दूसरे के प्रति श्रद्धा है, अतः स्वाभाविक सत्ता भी है, तो शुरू में ही यह नहीं कहा जाएगा कि यात्रा का विचार ही गलत है या बेवकूफी भरा है। वे उसे प्रोत्साहित करेंगे कि वह बताए कि वह कहाँ जाना चाहता है, कब, कैसे और क्यों जाना चाहता है। अगर उन्हें यह विचार बेतुका लगेगा तो वे बताएँगे कि ऐसा उन्हें क्यों लगता है। ऐसी चर्चाएँ अब भी होती हैं, जब बच्चा कहीं जाने, या कुछ करने की अनुमति चाहता है। अगर बच्चे को अनुमति की आवश्यकता न भी हो तो भी वह वयस्कों का अनुमोदन ज़रूर चाहेगा, और अपना काफी समय उन्हें सहमत करने में बिताएगा। अर्थात् तय करने का अधिकार किसे है यह प्रश्न ही काफी बाद में उठेगा।

एक बार मैंने एक ग्यारह वर्षीय लड़के को अपनी माँ से यह कहते सुना कि वह अपने दो दोस्तों के साथ पहाड़ों पर दो-तीन दिन की कैम्पिंग के लिए जाना चाहता है। माँ ने तमाम शंकाएँ और चिन्ताएँ ज़ाहिर कीं। उस मौसम में

आँधियाँ आती हैं। बिजली गिरने का खतरा रहता है। क्या उसे आँधी-तूफान की सम्भावना नहीं डराती? ना, उसे उससे डर नहीं था। क्या वह और उसके दोस्त यह समझते हैं कि ऐसे तूफान के दौरान उन्हें खुले में या बिजली आकर्षित करने वाली जगहों, जैसे बड़े पेड़, बिजली या फोन के खम्बों के पास नहीं होना चाहिए? गीले हो जाने पर क्या होगा? वे कितने कपड़े ले जाना चाहते हैं? रात को काफी ठण्ड होती है। उनकी कल्पना से भी कहीं ज़्यादा। क्या उनके पास ओढ़ने-बिछाने के लिए ठीक-ठाक स्लीपिंग बैग हैं? खाना कैसे पकेगा? वे क्या खाएँगे? तीन दिन खुद को कैसे व्यस्त रखेंगे? कई दिनों तक यह चर्चा चलती रही। माँ और बेटा दोनों ही कोई न कोई बिन्दु उठाते, एक दूसरे से बहस करते, कभी एक-दूसरे की बात मानते भी। वे यह इसलिए कर सके क्योंकि बच्चे को पता था कि माँ उसे कैम्पिंग जाने से नहीं रोक रही है, बल्कि उसके साहस और कुशलता को कीमती मानती है। उसकी सत्ता की अहमियत भी इसलिए थी क्योंकि वह नितान्त स्वाभाविक थी। ज़ोर-ज़बरदस्ती से थोपी हुई नहीं।

यात्रा अन्ततः तय हुई। एक दिन के लिए स्थगित ज़रूर हुई क्योंकि दिन बेहद तूफानी लग रहा था। अन्ततः एक समझौता हुआ। ठीक है जा सकते हो बशर्ते तुम यह करो और वह ले आओ, आदि। हुआ यूँ कि यात्रा में कई अप्रत्याशित परेशानियाँ आईं। पहाड़ों पर बिताई दोनों ही रातों को अचानक कोहरा घिर जाने से बच्चों को अपने तम्बू से दूर खुले में सोना पड़ा। अनुमान से अधिक ठण्डक और गीलेपन को झेलना पड़ा। अगर इन बच्चों को या उनकी माओं को इन परेशानियों का पहले से पता होता तो यह यात्रा सम्भव ही नहीं होती। बहरहाल वे बच्चे पहाड़ों से यह कहते हुए उतरे कि हज़ारों ऐसी चीज़ें थीं जिनके बारे में कैम्पिंग करने से पहले उन्होंने सोचा तक नहीं था। पर इसे ही तो अनुभव कहते हैं ना।

यह परिदृश्य तब भी लगभग ऐसा ही होता अगर बच्चों को उनके माता-पिता की अनुमति की कानूनन ज़रूरत नहीं होती। उन परिवारों के सिवाए जो वास्तव में परिवार हैं ही नहीं, बच्चे बड़ों की राय की काफी हद तक कद्र करते हैं। वे चाहते हैं कि उनके बारे में बड़ों की अच्छी राय हो।

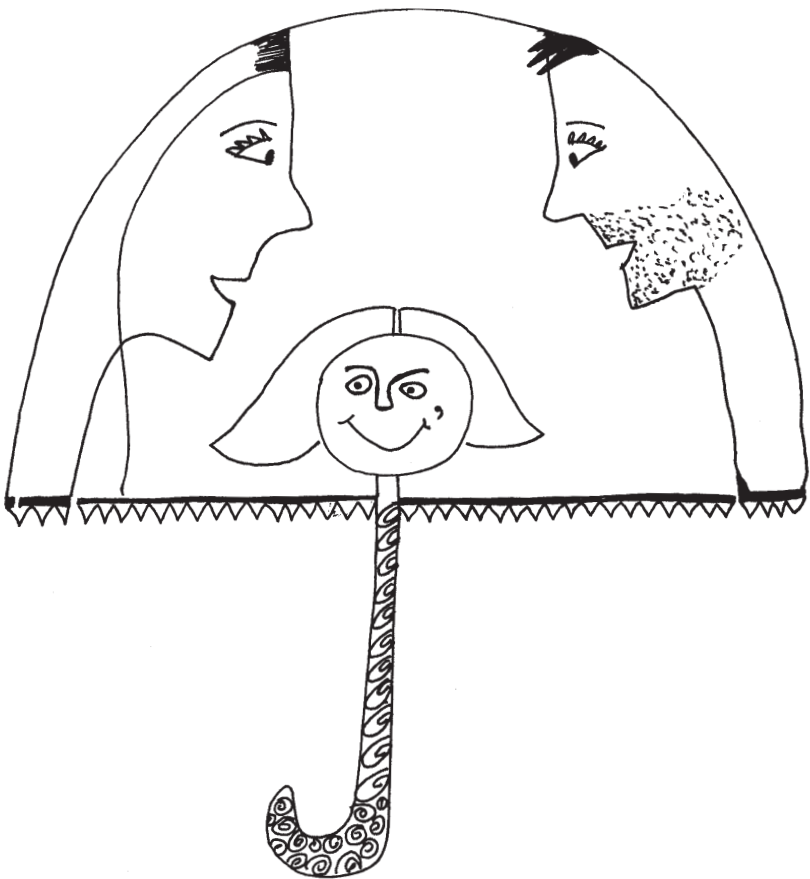
अपनी यात्रा करने के पहले उन बच्चों ने घर के पास घास में अपना तम्बू गाड़ा था, ताकि वे उसे खुद गाड़ सकें। एक अन्य परिवार में एक काफी छोटे बच्चे ने अपने पिता और बड़े भाई के साथ कैम्पिंग जाने से पहले कई रातों बाग में तम्बू लगाकर बिताई, ताकि उसे पता चल जाए कि ऐसा करना कैसा लगता है। अमूमन नए अनुभव को बच्चे इस प्रकार पाना भी पसन्द करते हैं। धीरे-

धीरे, एक बार में थोड़ा-थोड़ा। उन्हें अपरिचित को तलाशना पसन्द आता है। पर वे काफी सतर्क और रुढ़िवादी होते हैं और उन्हें अचानक से तलाश में कूद पड़ना पसन्द नहीं आता। कोई बच्चा जो कभी घर से दूर गया ही न हो शुरुआत में दो हज़ार मील दूर किसी स्थान की तीन महीने की यात्रा के बारे में सोचेगा भी नहीं। उस पुराने मज़ाक में काफी सच्चाई है कि घर से भागने की तमन्ना रखने वाला बच्चा नदी किनारे तक नहीं जा सका क्योंकि उसे सड़क पार करना नहीं आता है। या वह खाना खाने घर लौट आता है क्योंकि उसे भोजन पाने का कोई तरीका ही नहीं पता। बच्चा एक बार में एक कदम बढ़ता है। सवाल यह है कि बड़ी दुनिया की दिशा में बढ़ाए गए उसके छोटे-छोटे कदमों को हम प्रोत्साहित करेंगे या अकारण ही उन्हें वर्जित कर डालेंगे। अगर लोगों को यह पता हो कि सच में बल परीक्षण की नौबत आने पर वे अपने बच्चों को उनकी मनमर्ज़ी करने से रोक नहीं सकते, तो वे उनकी तलाश में निकलने की इच्छा को अधिक गम्भीरता से लेंगे। वे उनकी योजनाओं पर चर्चा करेंगे और केवल गम्भीर व वास्तविक आपत्तियाँ उठाएँगे और यथासम्भव समझदारी भरे समझौते करेंगे।

अगर हम यह जानते होते कि इच्छा होने पर बच्चे स्वयं को हमसे आज़ाद कर सकते हैं, तो हम उन्हें स्वावलम्बी बनाने में मदद करते और जल्द ही वे स्वतंत्र जीवन के लिए तैयार भी होते। जो बच्चा यह जानता है कि उसे जहाँ कहीं जाना हो कोई वयस्क ही ले जाएगा, वह रास्ते पर अधिक ध्यान नहीं देगा। न ही वयस्क उसे रास्ता बताएगा। कितना अच्छा होता अगर हम उसे बताते चलते कि वह जहाँ जाना चाहता है वहाँ कैसे पहुँचे। यहाँ बॉस्टन में रहने वाली एक माँ और उसकी सात वर्षीय बेटी एक रोचक खेल खेलते हैं। घर लौटते समय, सड़क के खतरनाक हिस्से को पार कर चुकने के बाद वे घर पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते पकड़ लेती हैं। यह कोई रेस नहीं होती। बल्कि घर पहुँचने के विभिन्न रास्तों की तलाश होती है। इस खेल से बच्ची अपने मुहल्ले को और इस तरह ज़्यादा से ज़्यादा बड़े इलाके को जानने लगेगी। या हम अपनी छोटी यात्राओं के समय बच्चे को निर्देश देने दें। हम उनसे कह सकते हैं हम वहीं मुड़ेंगे या बढ़ेंगे जहाँ बच्चा बताए। मानो हम अपरिचित या अन्धे हों। या वयस्क और बच्चा किसी नई राह को तलाशने निकल सकते हैं, जहाँ बच्चा नेतृत्व करे, जहाँ उसकी इच्छा हो मुड़े। उसे यह डर भी न हो कि वह खो जाएगा क्योंकि ऐसे में वयस्क उसे घर वापस ले जा सकता है। यह सब हम बच्चों के साथ अभी कर सकते हैं।

शहरी बच्चे रास्तों को जानने लगते हैं। कम से कम कुछ स्थानों तक तो वे

पहुँच ही जाते हैं। किन्तु अधिकांश बच्चों का रुझान सुरक्षित रहने का होता है और वे घर के इर्दगिर्द ही घूमते हैं। पर अधिक दूर के इलाके तलाशने निकलते वक्त उनके मन में यह भावना रहती है कि वे ऐसा वयस्क सत्ता के विरुद्ध जाकर कर रहे हैं। ज़ाहिर है कि एक नए शहर या देश को (जो निषिद्ध क्षेत्र हो) तलाशने में, और एक ऐसे अधिक बड़े मुहल्ले को तलाशने में जहाँ आपका स्वागत हो, आपके *अपने* देश, *अपनी* दुनिया को तलाशने में, बड़ा भारी अन्तर है।



21. अभिभावक चुनने का अधिकार

मैं बच्चों और किशोरों को तीन प्रकार के विकल्प उपलब्ध करवाना चाहता हूँ: (1) अभी की तरह वे आश्रित व्यक्ति के रूप में अपने माता-पिता (प्राकृतिक या जिन्होंने गोद लिया हो) की देखभाल, उनके नियंत्रण में रहें - इन्हें मैं प्राथमिक अभिभावक कहता हूँ; (2) आश्रित के रूप में, अपने माता-पिता के बदले में अपनी पसन्द के किसी बड़े व्यक्ति या लोगों की देखभाल और नियंत्रण में रहें। अर्थात् उन्हें द्वितीयक (सैकेण्ड्री) अभिभावक चुनने का अधिकार हो; (3) वे नितान्त स्वावलम्बी, वित्तीय तथा कानूनी रूप से ज़िम्मेदार नागरिक की तरह रहें। इस अध्याय में मैं दूसरे विकल्प पर विस्तार से चर्चा करना चाहूँगा।

आज भी उच्च मध्यम वर्ग के या सम्पन्न परिवारों के बच्चे उम्र में बड़े होने के साथ अपना अधिकाधिक जीवन माता-पिता के साथ नहीं बिताते। उनका अधिकांश समय ऐसे लोगों के साथ बीतता है जिन्हें कानून “लोको पेरेंटिस” या माता-पिता की जगह खड़े लोग कहता है। अमीर लोगों को अपनी ऐसी औलादों के साथ रहने की पीड़ा या तनाव को नहीं झेलना पड़ता जो बच्चे होने की स्थिति से तो निकल चुके हैं पर जिन्हें समाज कोई दूसरा दर्जा नहीं देता है। ऐसे माता-पिता अपने बच्चों के लिए द्वितीयक अभिभावक खरीदते हैं। पर अधिकांश लोग ऐसा नहीं कर सकते। मैं चाहता हूँ कि ऐसे द्वितीयक अभिभावक अधिक आसानी से और कम कीमत पर सुलभ हों ताकि ज़रूरतमन्द बच्चे उनका उपयोग कर सकें। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि मैं यह भी चाहता हूँ कि बच्चे को यह अधिकार हो कि वह स्वयं उन्हें तलाशे और चुन सके। ये द्वितीयक अभिभावक दो प्रकार के हो सकते हैं: (1) कोई बड़ा व्यक्ति या परिवार, या (2) कोई समूह या समुदाय।

मैं प्राथमिक और द्वितीयक अभिभावकों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने की कोशिश करता हूँ। द्वितीयक अभिभावक के साथ का सम्बन्ध स्वैच्छिक और अन्तरिम होगा। यह बच्चे व द्वितीयक अभिभावक की सहमति से स्थापित होगा। दोनों को ही यह समझौता या सम्बन्ध समाप्त करने का अधिकार होगा। वे यह करार बिना किसी समापन अवधि का उल्लेख किए कर सकते हैं। कानूनी भाषा में इसे *साइने डाई*, अर्थात् अनिश्चित काल के लिए कहते हैं। यानी यह सम्बन्ध उस वक्त तक जारी रहेगा जब तक दोनों में से एक (या दोनों) पक्ष

इसे खत्म करने का निर्णय नहीं ले लेता। या वे यह सम्बन्ध एक निश्चित अवधि के लिए - एक माह, एक साल या किसी भी कालावधि के लिए स्थापित कर सकते हैं। उस अवधि के बाद दोनों पक्ष यह तय कर सकते हैं कि वे यह रिश्ता आगे भी कायम रखना चाहते हैं या नहीं। पर यहाँ भी दोनों ही पक्षों को यह अधिकार होगा कि वे जब चाहें इसे समाप्त कर दें।

यह समझौता कुछ वैसा है जैसा किसी छात्र का अपने विश्वविद्यालय के साथ होता है। यह समझौता एक निश्चित अवधि के लिए होता है। स्नातक स्तर का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए यह चार वर्षों का होता है। यह मान लिया जाता है कि अगर कोई आपत्ति न करे तो छात्र आगामी चार वर्षों तक विश्वविद्यालय में ही रहेगा। फिर भी छात्र को यह अधिकार होता है कि अगर वह चाहे तो किसी भी समय विश्वविद्यालय छोड़ सकता है। साथ ही कॉलेज को भी यह अधिकार होता है कि वह कई कारणों के आधार पर किसी भी समय छात्र को कॉलेज छोड़ने को कह सकता है। अन्तर बस इतना भर है कि क्योंकि कॉलेज ने छात्र से शुल्क लिया है, इसलिए उसे उन कारणों को स्पष्ट व सिद्ध करना पड़ेगा जिनके आधार पर छात्र को निकाला जा रहा है। पर द्वितीयक अभिभावक को बच्चे की ही तरह सम्बन्ध समापन के कारणों को स्पष्ट नहीं करना होगा। जो भी कारण हो उन्हें किसी तीसरे पक्ष के समक्ष बताना या उनका स्पष्टीकरण देना उसके लिए ज़रूरी नहीं होगा।

इसके विपरीत प्राथमिक अभिभावक के साथ रिश्ता स्वैच्छिक या अस्थाई नहीं होगा। एक बच्चे के माता-पिता, चाहे वे प्राकृतिक हों या उन्होंने बच्चे को गोद लिया हो, उसके प्राथमिक अभिभावक रहेंगे। कम से कम जब तक बच्चा बालिग नहीं हो जाता वे इस सम्बन्ध को किसी भी कारण से नहीं तोड़ सकेंगे। भले ही बच्चा घर छोड़ने का निर्णय ले, दूसरे अभिभावक को तलाशे या उनके साथ रहने लगे, कुछ समय एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में बिताए। किन्तु इस सबके बावजूद अगर वह किसी भी कारण से अपने प्राथमिक अभिभावकों के पास लौटना चाहे और फिर से उन पर आश्रित होकर जीना चाहे तो वे उसे मना नहीं कर सकेंगे। संक्षेप में, यह पारस्परिक या आपसी दायित्व नहीं होगा। कानूनी रूप से नाबालिग प्रत्येक व्यक्ति के पास कोई न कोई होगा। अगर कोई दूसरा न ले, तो इस पर उस व्यक्ति की ज़िम्मेदारी उठाने का दायित्व हो। कुछ लोग कहेंगे कि माता-पिता पर इस तरह की एक-तरफा ज़िम्मेदारी थोपना तो न्यायपूर्ण है ही नहीं। पर उनका यह दायित्व तो आज भी है और उचित भी है। क्योंकि वे ही बच्चे को इस दुनिया में लाए हैं। या गोद लेने वाले माता-पिता के सन्दर्भ में उन्होंने ही यह स्वीकारा था कि वे ऐसे बर्ताव करेंगे मानो उन्होंने ही बच्चे को जन्म दिया हो।

कुछ लोग सवाल उठा सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी बच्चे का द्वितीयक अभिभावक बनने के बदले प्राथमिक अभिभावक बनना चुनेगा ही क्यों? एक उत्तर तो यह है कि द्वितीयक अभिभावक के साथ का सम्बन्ध अभिभावक और बच्चे की पारस्परिक सहमति से ही स्थापित हो सकता है। और अगर बच्चा छोटा है, शिशु है, तो ज़ाहिर है कि प्राथमिक अभिभावक ही उसे रख सकते हैं। उन्हें ही प्राकृतिक माता-पिता का दायित्व निभाना होगा।

कुछ लोग यह रेखांकित करेंगे कि आज भी कुछ प्राथमिक अभिभावक, बच्चे के माता-पिता, कानून से कह सकते हैं, “हम इस बच्चे को अब नियंत्रित नहीं रख सकते। हमें उसे इस घर में नहीं रखना है। उसे ले जाओ। उसके लिए कुछ करो।” ऐसे अधिकांश दृष्टान्तों में कानून मेहरबानी दर्शाते हुए बच्चे को ले जाता है और उसे जेल में ठूस देता है। मेरा प्रस्ताव है कि कानून ऐसे बच्चे को दूसरे विकल्प दे। उसे अन्य अभिभावक चुनने या स्वतंत्र नागरिक के रूप में जीने की छूट दे। पर एक कठिन और शायद असम्भव स्थिति की कल्पना करें जहाँ बच्चा स्वतंत्र नागरिक के रूप में जीना नहीं चाहता, और न ऐसे द्वितीयक अभिभावकों को तलाश सका है जो उसे रखना चाहते हों, और माता-पिता इसी बात पर अड़े हों कि वे बच्चे को नहीं सँभाल सकते, तो क्या होगा? इस स्थिति में शायद राज्य को उसकी ज़िम्मेदारी लेनी होगी और बच्चे को किसी प्रकार की संस्था में रखना पड़ेगा। ऐसे किसी समाज की राजकीय संस्थाएँ भी आज की मौजूदा संस्थाओं की तुलना में शर्तिया रूप से अधिक मानवीय होंगी। और शायद माता-पिता को भी अपने प्राथमिक अभिभावक के दायित्व से मुक्त होने के लिए अधिक ठोस सबूत प्रस्तुत करने होंगे। या फिर राज्य बच्चे से यह भी कह सकता है कि जब तुम आश्रित या परावलम्बी बने रहने से इंकार करते हो तो तुम चाहो या न चाहो हम तुम्हें स्वतंत्र और स्वावलम्बी घोषित करते हैं।

जब तक बच्चा द्वितीयक अभिभावकों के साथ रहेगा, वे बच्चे के माता-पिता के स्थान पर होंगे। उसके कृत्यों के लिए वे उतने ही ज़िम्मेदार होंगे जितने आज उसके प्राकृतिक माता-पिता माने जाते हैं। मान लें कि अपने द्वितीयक अभिभावकों के साथ रहते हुए बच्चा कुछ भारी गलती करता है या अपराध करता है। ऐसे में इसकी आंशिक ज़िम्मेदारी उनकी भी होगी। वे बच्चे से कह सकते हैं कि “अगर तुम ऐसा करते हो, तो हम नहीं चाहते कि तुम हमारे साथ रहो; किसी दूसरे को तलाशो या माता-पिता के पास लौट जाओ।” पर अपने अभिभावकत्व को खत्म करने पर वे उस कृत्य की ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं हो जाएँगे जो बच्चे ने उनके पास रहते समय किया था। इसी प्रकार अगर कोई बच्चा कोई भारी भूल या अपराध उस वक्त करे जब वह स्वतंत्र नागरिक के

रूप में जी रहा था तो वह यह ज़िम्मेदारी अपने माता-पिता पर इतना भर कहकर टाल नहीं सकेगा कि “मैं वापस तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ।”

मैं जो कुछ प्रस्तावित कर रहा हूँ उसका एक मकसद है। और वह यह कि जब तक बच्चा कानूनी रूप से बालिग घोषित नहीं हो जाता (चाहे वह उसके लिए तैयार हो या न हो) और इस तरह एक सम्पूर्ण नागरिक नहीं बनता है, उसे ऐसे लोगों पर आश्रित होने पर बाध्य न होना पड़े जिन्हें उसने न तो चुना था और न ही वह उन्हें पसन्द करता है। बल्कि वह चयनित आश्रितता या स्वावलम्बी रूप से जीने की दिशा में बढ़ सके। वह अपने अभिभावक और शासक चुन सके या यह चुन सके कि उसे ऐसे लोग चाहिए ही नहीं। वह इन स्थितियों में आ-जा सके और दुनिया में एक अधिक क्रमिक और कम पीड़ादायक प्रवेश कर सके।

यह सब काफी अमूर्त लग सकता है। पर ज़रूरी नहीं कि ऐसा ही हो। जो मैं सुझा रहा हूँ उसे कई लोग पहले भी कर चुके हैं - कोई भारी-भरकम नाम दिए बगैर। जब मैं छोटा था तो अपनी गर्मियों का कुछ समय मिशिगन स्थित ग्रैण्ड रैपिड्स में रहने वाले अपने दादा-दादी के साथ मज़े से बिताता था। मैं उन्हें खूब प्यार करता था और वे मुझे। उनके मुहल्ले के बच्चों के साथ मेरी दोस्ती थी। एक साल, जब मैं ग्यारह वर्ष का हुआ तो दादा-दादी और मैंने सोचा कि शायद पूरी सर्दियाँ उनके साथ बिताना हम सबको अच्छा लगे। यह विचार पहले काफी अजीब लगा - दादाजी उस समय अस्सी साल के रहे होंगे - हम इस सम्भावना की कल्पना ही नहीं कर पा रहे थे। अन्ततः हमने हिम्मत जुटाई और माता-पिता से इसकी अनुमति चाही। पिता का तार आया, *हाँ, सर्दियाँ बिता सकते हो।* सो मैं वहीं रहा। यह मेरे बड़े होने का सबसे खुशनुमा साल था।

हाल में बॉस्टन में रहने वाले कुछ मित्रों के साथ साल भर एक ऐसा बच्चा रहा जो बॉस्टन में ही पढ़ाई करता था और वहीं रहना चाहता था। उसके माता-पिता साल भर के लिए विदेश जा रहे थे।

यह व्यवस्था सबको रास आई। ऐसे तमाम लोग होंगे जिनके अपने बच्चे काफी पहले बड़े हो चुके होंगे और जिन्हें बच्चे अच्छे लगते हों। वे शायद कुछ समय (साल भर या उससे कम समय) के लिए किसी बच्चे को अपने साथ रखना पसन्द करें। या जिन परिवारों के बच्चे हों और वे अपने बच्चों की अदला-बदली करना चाहें। सुखी परिवारों में भी एक ऐसा समय आता है जब बच्चा अपने परिवार को झेल नहीं पाता है या वे उसे। सालों पहले एक बड़े और सुखी परिवार वाले मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा था, “जॉन, अगर कभी तुम्हारा अपना

परिवार हो तो एक बात जान लो। जब तुम्हारे बच्चे छोटे हों और उनसे तुम्हारे रिश्ते कितने ही अच्छे क्यों न हों, एक समय आएगा जब तुम उनके लिए निकम्मे हो जाओगे। इसकी तैयारी ज़रूर रखना।” यह मैंने कई बार देखा है। उन परिवारों में भी जहाँ स्नेही और प्रसन्न बच्चे रहते रहे हों।

किशोरावस्था की शुरुआत में अपने माता-पिता के साथ मेरे रिश्ते, दूसरों की ही तरह, बहुत अच्छे नहीं थे। मेरे एक पक्के दोस्त की स्थिति भी मेरे ही समान थी। मैं जब भी उसके घर जाता वह किसी न किसी मुसीबत में फँसा मिलता। पर उसके माता-पिता मुझे खूब पसन्द करते थे और मेरे माता-पिता उसे। शायद यह हम सबके लिए अच्छा होता कि वह मेरे और मैं उसके परिवार के साथ कुछ समय बिताता। कुछ ही समय में नयापन खत्म हो जाने पर उसके माता-पिता मेरी तमाम कमियों को देख पाते और मैं उनकी। यही बात मेरे परिवार और मेरे दोस्त के साथ होती। माता-पिता भी यह समझते कि उनके बच्चे की कमियाँ बिलकुल अनूठी नहीं हैं। और हम बच्चे भी माता-पिता के बारे में यही बात समझ पाते। इसके बाद जब हम अपने परिवारों में लौटते तो शायद साथ-साथ जीना हम सबको अधिक आसान लगता।

कई बार ऐसा हो सकता है कि किसी घर में बच्चे को बहुत पसन्द न किया जाता हो। उसे वहाँ प्यार न मिलता हो। पर किसी दूसरे घर में स्थिति इसके बिलकुल विपरीत हो। मैं एक बच्ची को जानता हूँ जो फिलहाल अपने घर में बहुत लोकप्रिय नहीं है। पर एक दूसरे परिवार में उसे आनन्द का स्रोत माना जाता है। वे उसे साल भर या उससे भी ज्यादा समय के लिए अपने पास रखना बेहद पसन्द करेंगे। कोई *आवश्यक* कारण नहीं कि माता-पिता अपने ही बच्चे को सबसे ज्यादा पसन्द करें या उसे पसन्द भी करें। सम्भव है उन्हें कोई दूसरा ही बच्चा अधिक पसन्द आता हो। ऐसे में वयस्कों और बच्चों के लिए जीना आसान क्यों न बनाया जाए? क्यों न उन्हें ऐसा परिवार ढूँढने दिया जाए, उसके साथ अधिक समय बिताने का मौका दिया जाए?

समूह, समुदाय, संगठन आदि भी द्वितीयक अभिभावकों की भूमिका निभा सकते हैं। इसके कुछ उदाहरण आज भी मौजूद हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण तो सेना ही है। सेना में काम कर रहे लोगों और सेना का रिश्ता कई अर्थों में बच्चों और माता-पिता के रिश्ते जैसा ही है। सेना सैनिकों की मूलभूत ज़रूरतों, भोजन, वस्त्र, आवास आदि को पूरा करती है; उन्हें बताती है कि क्या करना है और उनके कृत्यों की ज़िम्मेदारी भी लेती है। छावनी या जहाज़ से दूर कोई सैनिक अगर मुसीबत में फँसे तो सेना पुलिस उसे अपने कब्जे में लेती है और नागरिक पुलिस से कहती है, “हम इसे सँभाल लेंगे।” कॉलेजों व विश्वविद्यालयों का रिश्ता भी अपने छात्रों के साथ कुछ ऐसा ही है। यद्यपि अब यह रिश्ता पहले

से काफी कमजोर हो गया है। वे उसे भोजन और आवास उपलब्ध करवाते हैं। उसके जीवन के कई हिस्सों को नियंत्रित करते हैं। उनके कृत्यों की, कम से कम परिसर के कृत्यों की, कानूनी ज़िम्मेदारी भी लेते हैं। छोटे बच्चे जिन छात्रावासों या शिविरों में जाते हैं वे भी ऐसे ही उदाहरण हैं। हालाँकि वहाँ कार्यरत लोग माता-पिता की भूमिका के अलावा पुलिस की भूमिका भी निभाते हैं। साथ ही वाय.एम.सी.ए., वाय.डब्ल्यू.सी.ए. और वाय.एम.एच.ए. जैसी संस्थाएँ, स्की स्थलों के पास रहने के सस्ते रैनबसेरे, चर्चों द्वारा चलाए जाने वाले अल्पावास गृह, कोपनहेगन या अन्य यूरोपीय शहरों में युवाओं में लोकप्रिय सस्ते अल्पावास आश्रय आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं।

अगर इन्हें ध्यान में रखकर हम संगठनों, समुदायों के एक समूह या नेटवर्क की कल्पना करें जहाँ बच्चों व किशोरों को यह सुविधा उपलब्ध हो कि वे मुफ्त में या कम पैसों में कुछेक ऐसे वयस्कों की लचीली देखरेख में समय बिता सकें जो उनकी ज़िम्मेदारी भी लें, तब उस बच्चे के लिए भी घर से अलग कुछ समय बिताना सम्भव हो सकेगा जो किसी दूसरे परिवार को अपना अभिभावक नहीं बना पाया हो। वह इस समूह में अपना नाम लिखवाकर उस पर निर्भर हो सकेगा। बल्कि यह भी सम्भव है कि जिस बच्चे का अपने परिवार के साथ कड़वा अनुभव रहा हो, वह एक भिन्न प्रकार के समुदाय में एक कम व्यक्तिगत सम्बन्ध ही पसन्द करे। जैसा अनुभव कई बच्चों को शिविरों या छात्रावासों में मिलता है।

वैकल्पिक या मुक्त शालाएँ, जैसे समरहिल, लूइस-वैडहैम्स, माइन स्थित कॉलिनस ब्रुक स्कूल, न्यू यॉर्क शहर का लीप स्कूल और ऐसे ही तमाम दूसरे स्कूल हैं जिन्हें ऐसे ही समुदाय माना जा सकता है। दरअसल नील तो हमेशा ही समरहिल को पहले एक समुदाय और फिर एक सीमित हद तक स्कूल मानते थे। और स्कूल भी इसलिए क्योंकि कानून बच्चों को स्कूलों के अतिरिक्त किसी समुदाय में रहने की अनुमति नहीं देता था। लीप (लोअर ईस्टसाइड एक्शन प्रोजेक्ट) एक समुदाय के रूप में ही शुरू हुआ था। मुहल्ले के बच्चों के लिए घर से दूर एक घर के रूप में। बाद में (तमाम अन्य परियोजनाओं के साथ) उन्होंने एक स्कूल भी खोला, क्योंकि बच्चे यह चाहते थे। सम्भव है कि अगर उन पर स्कूलों का जामा ओढ़ने का दबाव न हो तो ऐसे कई समुदाय बेहतर काम करें। वे कम खर्च में अधिक लोगों को सेवाएँ दे सकें, बशर्ते उन्हें साफगोई के साथ समुदायों के रूप में काम करने दिया जाए। अन्यथा उन्हें भी एक हद तक स्कूलों के अमानवीय और अनुचित काम करने पड़ेंगे। अर्थात् जो बड़े चाहते हैं वही बच्चों को सिखाना-पढ़ाना, उन्हें कॉलेजों में दाखिल करवाना, बाद में अच्छी नौकरियों में लगवाना। यानी उन्हें ठोक-पीटकर सफल बनाना।

अगर इन समुदायों में रहने वाले बच्चे और किशोर किसी प्रकार की शैक्षणिक गतिविधियाँ सच में चाहें तो स्वयं ही उन्हें नियोजित करें, चलाएँ और उसका प्रबन्ध करें। ऐसे कुछ समुदायों के लिए शायद यह भी बेहतर हो कि वे केवल बच्चों या किशोरों के लिए न होकर हर उम्र के लोगों के लिए हों, अगर इन समुदायों का अपना कोई केन्द्रीय उद्देश्य हो - जैसे खेतीबाड़ी, हस्तकलाएँ, छोटा-मोटा कुटीर उद्योग, व्यवसाय, संगीत या नाटक। संक्षेप में, अगर वह किसी साझे सरोकार के सूत्र में बन्धे लोगों का समूह हो तो वह और भी बेहतर हो।

लिक्स बुक्स, न्यू यॉर्क से छपी माइकल एस. काय की पुस्तक *द टीचर वॉज़ द सी* एक ऐसे ही समुदाय के उद्भव, विकास और बदलाव का एक उम्दा, ईमानदार और संवेदनशील विवरण है। इसकी शुरुआत पॉलो आल्टो के पास एक वैकल्पिक स्कूल के रूप में हुई थी जिसका नाम था पेसिफिक हाई स्कूल। जितना अधिक समय वहाँ लोगों ने काम करते बिताया, उन्हें अक्सर दुख के साथ उतना ही अधिक स्पष्ट होता चला कि वे बच्चों और किशोरों की गहनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर, छोटे और बड़े लोगों के बीच ईमानदार रिश्तों की स्थापना नहीं कर सकते, तब तक जब तक वे एक स्कूल होने का ढोंग त्यागकर एक ऐसा समुदाय न बन जाएँ जहाँ भिन्न-भिन्न उम्र के लोग साथ-साथ जीते और काम करते हों। किसी दूसरे लेखक ने उन विरोधाभासों का इस खूबसूरती से वर्णन नहीं किया है जो तब उभरते हैं जब किसी मुक्त शाला में परम्परागत अकादमिक कक्षाएँ चलाने की कोशिश की जाती है।

शेष समुदायों की ही तरह ऐसे समुदायों के भी अपने निजी कानून होंगे। और वहाँ आश्रितों के रूप में रहने वाले बच्चों के लिए शायद कुछ विशेष नियम भी हों। जैसे रात को वापस लौटने का समय, शान्त रहने का समय, और शायद जो बच्चे एक या अधिक रात बाहर गुज़ारना चाहें उन्हें व्यवस्थापकों को इसकी सूचना भी देनी पड़े कि वे कहाँ जा रहे हैं। ऐसे समुदायों को भी किसी द्वितीयक अभिभावक की ही तरह यह अधिकार होगा कि अगर कोई बच्चा बहुत अनियंत्रित या परेशान करने वाला हो, तो वे उसके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ दें, या उसे लौट जाने को कहें। कुछ लोगों को इस बात में विरोधाभास नज़र आ सकता है। पर किसी स्वैच्छिक समुदाय में स्वतंत्रता और नियमों में कोई विरोधाभास नहीं होता। अगर आप अपनी ही इच्छा से आते हैं और रहने या जाने का विकल्प वास्तव में आपके सामने होता है, तो समुदाय को यह कहने का अधिकार भी होता है कि “अगर यहाँ रहना चाहो, तो तुम्हें ये काम करने होंगे। और अगर तुम वे काम नहीं करना चाहते तो तुम जा सकते हो।” समरहिल जैसे कुछ समुदायों में खुली आमसभाओं में इन नियमों पर चर्चा की

जा सकती है। उन्हें बदला जा सकता है। कुछ दूसरों में वे कमोबेश तय होते हैं। मुझे लगता है कि किसी समुदाय को आगन्तुक को यह कहने का अधिकार भी होना चाहिए कि “तुम्हें कुछ समय यहाँ बिताना होगा। समुदाय में स्थाई रुचि दिखानी होगी। योगदान देना होगा। हमारे सरोकारों को बाँटना होगा और केवल तब ही तुम्हें हमारे नियमों को बदलने के विषय में कुछ कहने का अधिकार मिलेगा।” इस विषय में और भी तरीके सोचे जा सकते हैं।

सम्भव है कि कई समुदाय यह चाहें, और शायद उन्हें यह आवश्यक भी बना देना चाहिए, कि वहाँ रहने वाला प्रत्येक सदस्य समुदाय चलाने के लिए कुछ न कुछ काम करे। यह अपने आप में अच्छी बात है और इससे लागत में भी कमी आएगी। सम्भव यह भी है कि कुछ समुदाय इसे ज़रूरी न मानें। वे वाय.एम.सी.ए. या किसी सस्ते होटल या यूथ हॉस्टल की तरह हों जहाँ स्थाई कार्यकर्ता हों। जिन स्थानों पर आवासियों को काम में हाथ बाँटने की ज़रूरत न हो, और वे अपने काम वेतन देकर करवा सकें, वे शायद अधिक शुल्क लें। यूँ कोई बच्चा या किशोर किसी बिलकुल सस्ती जगह पर भी रह सकता है जहाँ उसे कुछ काम करने पड़ें और कुछ अधिक महँगी जगह पर भी जहाँ उसे कुछ भी न करना पड़े। ज़्यादातर बच्चे पहला विकल्प ही चुनेंगे।

ऐसे स्थानों को बनाने की ज़िम्मेदारी कौन लेगा? उनकी कीमत कौन चुकाएगा? वहाँ काम कौन करेगा? इन सवालों के कुछ जवाब मैं यहाँ सुझा सकता हूँ। जब भी हम सरकार द्वारा चलाई जाने वाली ऐसी संस्थाओं के बारे में, उनमें काम करने वाले लोगों के बारे में सोचते हैं तो कुछ ठिठक जाते हैं। क्या ऐसे आश्रयों को चलाना भी उसी तरह का उद्योग बन जाएगा जैसा आज स्कूल चलाना या अन्य संस्थाएँ चलाना बन चुका है? क्या स्कूलों की ही तरह यहाँ भी अनावश्यक और खर्चीला प्रशिक्षण, पंजीकरण, प्रमाणन का धन्धा होगा? हमें इस सबको रोकने में सक्षम होना चाहिए। मौजूदा संस्थाओं और जिस प्रकार के समुदायों को मैं प्रस्तावित कर रहा हूँ, उनमें अन्तर यह है कि अधिकांश राजकीय संस्थाएँ जेल के समान हैं। न तो लोग उनमें जाना चुनते हैं, न उन्हें छोड़ना चाहें तो छोड़ ही सकते हैं। लोग वहाँ इसलिए हैं क्योंकि दूसरों ने अपने निजी कारणों से उन्हें वहाँ भेज दिया है। और वे वहाँ तब तक रहने को मजबूर हैं जब तक उन्हें भेजने वाले, फिर से अपने ही कारणों के चलते, उन्हें वहाँ से निकालने का निर्णय न ले लें। ज़ाहिर है इससे दुर्व्यवहार और ज़ोर-ज़बरदस्ती को बढ़ावा मिलता है। किन्तु अगर लोग उन समुदायों को छोड़ सकते जो उन्हें नापसन्द हों, तो ऐसे समुदायों को चलाने वालों को अपने मुवकिलों के अनुरूप स्वयं को ढालना पड़ता, क्योंकि अन्यथा वहाँ कोई आता ही नहीं।

इन संस्थाओं के लिए वित्त कहाँ से आएगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि

ये संस्थाएँ किस समाज में चलाई जा रही हैं; वह समाज बच्चों व किशोरों समेत अपने सभी बाशिन्दों को एक न्यूनतम आय की गारण्टी देता है या नहीं। अगर समाज यह करता है तो इन आश्रमों या समुदायों का खर्चा उन्हीं लोगों को उठाना होगा, और उठाना चाहिए भी, जो इनका उपयोग करते हैं। इस तरीके से यह भी सुनिश्चित किया जा सकेगा कि ये स्थान वास्तव में उन लोगों को सेवाएँ दें जिनके लिए वे बनाए गए थे। किन्तु अगर बच्चों और किशोरों की न्यूनतम आय सुनिश्चित नहीं होती तो संस्थाओं को अपना वित्त खुद लाना होगा। या वे दान माँगींगी या शुल्क लेंगी। सम्भव है कि उन्हें अधिकांश राशि सरकार से माँगनी पड़े।

यहाँ दो सम्भावनाएँ हैं। डेनमार्क में एक कानून है कि दस या उससे अधिक परिवारों का समूह अपने बच्चों के लिए एक स्कूल शुरू कर सकता है। समूह को साल भर तक उसे अपने बूते पर चलाना होगा। इसके बाद ही सरकार स्कूल चलाने में आने वाले व्यय की करीब 85 प्रतिशत राशि उपलब्ध करवाती है। पर प्रारम्भ में लगने वाली पूँजी की व्यवस्था उन्हीं लोगों को करनी पड़ती है जो इसे चलाना चाहते हैं। सरकार इसी प्रकार का प्रस्ताव बच्चों और किशोरों के आश्रम या समुदाय के लिए भी दे सकती है। किन्तु अगर बच्चों या किशोरों के पास अपना पैसा है तो शायद बेहतर यह हो कि सरकार इन आश्रमों की प्रारम्भिक लागत का अधिकांश हिस्सा स्वयं वहन करे - यानी भवन, मरम्मत, उपकरण, मेज़-कुर्सी आदि पर आने वाली लागत। और उसे चलाने का खर्च वे लोग वहन करें जो वहाँ रहें। या सरकार दोनों विकल्प ही सामने रखे।

ऐसे स्थानों में कौन काम करेगा? आज भी मुक्त शालाओं, साहसिक उद्यानों या अन्य स्वैच्छिक समुदायों में नौकरियाँ तलाशने वाले नौजवानों की संख्या उपलब्ध नौकरियों से अधिक है। अतः यह मानने का कोई कारण नहीं कि इन समुदायों में काम करने वाले लोग नहीं मिलेंगे। खासकर उस स्थिति में जब सबके पास एक न्यूनतम आय हो और उन्हें वेतन देने की या अधिक वेतन देने की आवश्यकता न हो। संस्थाओं द्वारा दिए जा सकने वाले वेतन में शायद सरकार भी एक छोटी राशि जोड़ सके। या उनके काम के बदले एक निश्चित आय उपलब्ध करवा सके।

सवाल है कि ऐसी संस्थाओं या सहायक संस्थाओं को सरकार चलाए या वे सरकारी समर्थन से चलाई जाएँ? मेरे हिसाब से बेहतर यह है कि सरकार वित्त उपलब्ध करवाए और लोग अपनी आवश्यकता और पसन्द के अनुरूप इन्हें बनाएँ और चलाएँ। शायद सरकार को इन संस्थाओं में स्वास्थ्य व सुरक्षा के न्यूनतम मापदण्ड लागू करना ज़रूरी लगे। परन्तु इसके भी अपने ही खतरे होते हैं। अक्सर भवन निर्माण या दिवस देखभाल जैसे कामों के बारे में “मानक”

लागू करने के प्रभावस्वरूप उस अत्यावश्यक सेवा की कीमत बढ़ जाती है। और वह उन लोगों से दूर हो जाती है जिन्हें उसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है। साथ ही तब यह सेवा एक मानवीय गतिविधि न रहकर एक बाज़ारू वस्तु बन जाती है। वह एक ऐसे एकाधिकार का रूप ले लेती है जिसे विशेषज्ञ अपने लाभदायक व्यवसाय का ज़रिया बना डालते हैं। सरकार (अधिकांश दृष्टान्तों में शहर) उन आवासीय इलाकों में अपने ही द्वारा बनाए गए स्वास्थ्य और सुरक्षा के नियमों को लागू नहीं करती जहाँ गरीब लोग रहने पर मजबूर हैं। पर जब स्कूल या दूसरी संस्थाओं को बन्द करना हो, जो इन्हीं गरीबों द्वारा अपनी मदद के लिए बनाई गई हों, तो वह इन नियमों का बहाना इस्तेमाल करती है।

कोई कारण नहीं कि इन आश्रयों या समुदायों के आवासीय हिस्से बिलकुल साधारण न हों। न्यू यॉर्क के लीप स्कूल के लैरी तथा मिशेल कोल ने ऐसी साधारण पर अनोखी, बन्द हो जाने वाली खाटें, सामान रखने के आले और अध्ययन करने के स्थान बनाए थे जिनका उपयोग स्कूल में रहना चाहने वाले बच्चे और किशोर कर सकते थे। इन्हें एक बड़े बक्से में बन्द किया जा सकता था या खोलकर छोटे निजी कमरों का रूप दिया जा सकता था, या जोड़कर दो या तीन छात्रों लायक एक कमरा बनाया जा सकता था, या जैसा छात्र चाहते वैसा आकार दिया जा सकता था। ये बक्से कम लागत में बनाए जा सकते थे और एक कमरे में रखे जा सकते थे। इस अर्थ में लीप स्कूल एक भण्डार गृह ही था।

जिस खतरे का मुझे डर है और जिससे हर कीमत पर बचना चाहिए वह यह है कि ऐसे स्थलों की माँग इतनी हो जाएगी कि यह भी एक नया उद्योग या नौकरशाही बन जाएगा, जैसा स्कूलों के साथ हुआ है। प्रारम्भ में यह संवेदनशील और विवेकपूर्ण रहेगा। पर समय के साथ इसका स्वरूप भी गैर-लचीला, नियमों से जकड़ा, सुरक्षात्मक व स्वार्थी बन जाएगा। यह अत्यावश्यक है कि ये स्थल छोटे, अनौपचारिक तथा विकेन्द्रित हों। मौजूदा व्यवस्था से असन्तुष्ट लोगों को हमेशा यह अधिकार भी हो कि वे अपने लिए कुछ नया बनाएँ। ऐसा डेनमार्क के स्कूलों के साथ होता है। आश्रय, रहने का स्थान और अन्य लोगों का साथ लोगों की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। इन्हें उपलब्ध करवाने पर किसी का भी एकाधिकार नहीं होना चाहिए - फिर चाहे यह एकाधिकार व्यावसायिक, कानूनी या कोई अन्य ही क्यों न हो।

क्या उस समाज को भी ऐसी संस्थाओं की ज़रूरत होगी जो इतना अच्छा हो कि उसने इन्हें बनाया हो? जी हाँ, पर शायद हमारे मौजूदा समाजों से कहीं कम। बेहद विवेकपूर्ण और मानवीय समाजों में भी बच्चों को बदलाव, आज्ञादी,

साहसिक अनुभवों तथा नए स्थानों की यात्रा कर नए लोगों से मिलने की ज़रूरत होगी। उन्हें अपने परिवारों से कुछ समय तक अलग रहने और फिर वापस लौट पाने की ज़रूरत होगी। अपने परिवार से फिर मिलने और नवागन्तुकों के रूप में उन्हें फिर से जानने की ज़रूरत होगी। इससे परिवारों को भी लाभ होगा। वे भी अमीरों की तरह अपने चंचल और अधीर बच्चों से, कम से कम कुछ समय के लिए, छुटकारा पा सकेंगे।

22. सुनिश्चित आय का अधिकार

अगर किसी समाज में सम्मानजनक आजीविका का एकमात्र उपाय नौकरी पाना हो, और उपलब्ध नौकरियों की संख्या नौकरी चाहने वालों से कम हो, तो ज़ाहिर है कि कई लोगों को नौकरीपेशा व्यक्ति पर निर्भर रहना होगा। आज हमारे देश की तकरीबन आधी महिलाएँ, कई वृद्ध और सभी बच्चे इस स्थिति में ही हैं। और जब तक यह स्थिति बनी रहती है इन लोगों की स्वतंत्रता, उनके समान अधिकारों की चर्चा ही अवास्तविक है। अगर अपनी ज़रूरत की चीज़ें उन्हें उसी व्यक्ति से मिल सकती हैं जो नौकरी करता हो या रोटी कमाने वाला हो तो उसे भी यह लगेगा कि बच्चों को क्या करना चाहिए कहने का अधिकार उसका है। और काफी हद तक उसका यह मानना सच भी होगा। फिर कानून चाहे जो कहता हो। इनके सामने भी अपने अन्नदाता का कहा मानने के अलावा कोई चारा नहीं होगा। क्योंकि जाने के लिए उनके पास कोई दूसरा ठौर भी तो नहीं है।

हमारे समाज में महिलाओं और बच्चों के समान अधिकारों की बात करते वक्त हम आवश्यक रूप से उच्च मध्यम वर्ग और सम्पन्न वर्ग की ही बात कर रहे होते हैं। क्योंकि इन्हीं वर्गों में यह सम्भावना है कि महिलाओं और बच्चों के पास अपना पैसा हो, और वे जो भी, जैसे भी काम उपलब्ध हैं उन्हें पा सकते हों, या उन लोगों की मदद ले सकते हैं जिनके पास पैसा है। पर ये विकल्प अधिकांश लोगों के पास हैं ही नहीं। निम्न मध्यम वर्ग या गरीब वर्ग की महिलाएँ और बच्चे किसी नौकरीपेशा व्यक्ति पर तब तक निर्भर रहेंगे जब तक उनके पास निजी आय का कोई साधन न हो।

इस कारण स्वतंत्र होने का अधिकार उसी समाज में सार्थक बन सकता है जो हरेक के लिए न्यूनतम आय सुनिश्चित करे। यह राशि क्यों दी जानी चाहिए, राशि कितनी हो, उसके लिए वित्त कहाँ से आएगा, इसे पाने में कौन-कौन सी मनोवैज्ञानिक और राजनैतिक बाधाएँ हैं, इन बाधाओं के लॉघने के प्रभावी उपाय क्या हो सकते हैं - इन तमाम सवालों का उत्तर मैं यहाँ नहीं दे सकता। मेरा प्रस्ताव है कि ऐसी आय प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध करवाई जाए। केवल वयस्क स्त्री-पुरुषों को, विवाहित या एकल वयस्कों को ही नहीं बल्कि हर बच्चे को भी। जिस उम्र में बच्चा स्वतंत्र आय चाहे उसे वह तभी से ही उपलब्ध

करवाई जाए। क्योंकि जब तक व्यक्ति के पास जीवनयापन के लिए आवश्यक राशि नहीं होगी, घर छोड़ने, यात्रा करने, अपने अभिभावक स्वयं तलाशने, अपने इच्छानुरूप स्थान में रहने आदि के अधिकार भी सार्थक नहीं हो सकेंगे। कुछ लोग यह कहते हुए आपत्ति करेंगे कि इस हद तक आर्थिक स्वतंत्रता पारिवारिक बन्धनों को कमजोर बना देगी। पर राज्य को परिवार या व्यक्तिगत सम्बन्धों को जोड़े रखने के लिए गरीबी की धमकी का उपयोग गोंद की तरह नहीं करना चाहिए।

अगर कोई बच्चा आश्रित के रूप में जीता है और कोई अभिभावक उसके आवास, कपड़े, भोजन व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो, तो क्या बच्चे की आय का कुछ भाग खर्चे के रूप में अभिभावक को भी मिलना चाहिए? अगर हाँ, तो कितना? अगर कोई बच्चा आपसी समझौते के बाद अपने द्वारा चुने गए किसी द्वितीयक अभिभावक के साथ रहता है तो उन्होंने इस राशि पर पहले ही बातचीत कर ली होगी। अगर अभिभावक के पास अधिक पैसा नहीं हो तो वह शायद बच्चे से कहे, “अगर तुम्हें यहाँ आकर रहना है तो तुम्हें अमुक राशि खर्च के लिए देनी होगी”। अगर वह सम्पन्न हो तो उसे शायद इसकी ज़रूरत ही न हो। और अगर वे बाद में इस वित्त व्यवस्था से असन्तुष्ट हो जाएँ तो इस पर फिर से बातचीत की जा सकती है। परेशानी में फँसने पर अभिभावक बच्चे से कह सकता है, “देखो, अगर तुम अमुक राशि नहीं दे सकते तो तुम्हें रखना हमारे लिए सम्भव नहीं है। तुम अब हमारे साथ नहीं रह सकते।” यह भी कुछ असम्भव-सा ही लगता है कि जो लोग तमाम कारणों से साथ रहना चाहते हों, वे केवल इस मुद्दे पर अलग हो जाएँ।

परन्तु माता-पिता, अर्थात् प्राथमिक अभिभावक, बच्चे को कुछ राशि देने अन्यथा बाहर निकल जाने की बात नहीं कह सकेंगे। तो फिर उन्हें बच्चे की आय में से वाजिब हिस्सा कैसे मिलेगा? और वाजिब हिस्सा होगा कितना? क्या ये बातें कानून में स्पष्ट की जाएँगी? पर अब तक स्पष्ट हो चुके कारणों से मैं ऐसा नहीं चाहूँगा। शायद यही प्रावधान उचित हो कि अपने प्राथमिक अभिभावकों के साथ रह रहे बच्चे की आय का एक निश्चित प्रतिशत सीधे ही अभिभावक को दे दिया जाए। और अगर बच्चे और अभिभावक को यह व्यवस्था अच्छी न लगे तो वे आपसी बातचीत से मसले को सुलटा सकते हैं।

कुछ लोग पूछेंगे कि अगर परिवार के हरेक सदस्य की अपनी निजी आय हो, हरेक अपना आयकर विवरण भरे, और उसे कर से छूट मिले, तो इससे संयुक्त आय कैसे बनेगी? क्या इससे, हरेक को साझे व्यय के लिए कितनी राशि डालनी चाहिए आदि विषयों पर अनन्त बहस नहीं शुरू हो जाएँगी? क्या आज की मौजूदा व्यवस्था ही बेहतर नहीं है, जहाँ सब अपनी आय एक साझे कोष में

डालते हैं और परिवार को एकल आर्थिक इकाई के रूप में देखा जाता है? जिस स्थिति को मैं प्रस्तावित कर रहा हूँ उसमें परिवारों में पैसों को लेकर बहस की सम्भावना ज़रूर है। पर जिस तरीके से आज हम इस खतरे से बचते हैं वह तो और भी खराब है। यह कहना ठीक है कि परिवार एकल आर्थिक इकाई है और सभी को अपनी पूरी आय साझे व्यय के लिए डाल देनी चाहिए। किन्तु इसका व्यावहारिक अर्थ यह होता है कि परिवार की समूची सम्पत्ति और आय परिवार के मुखिया (जो अमूमन एक पुरुष होता है) की हो जाती है। शेष सदस्यों को अपनी आवश्यकताओं के लिए पैसों को लेकर मोलभाव करना पड़ता है, यहाँ तक की भीख माँगनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, परिवार के संसाधन कैसे बाँटे जाएँ, यह समस्या तो पहले ही मौजूद है। अन्तर इतना भर है कि आज आश्रित सदस्यों को एक कमज़ोर और असमान स्थिति से मोलतोल करना या भीख माँगनी पड़ती है। जब तक वे काम नहीं करते, न उनकी आय होती है, न आय पर उनका अधिकार ही। अगर प्रत्येक सदस्य की अपनी सुनिश्चित आय होती, और या तो वे कर देते या उन्हें कर विभाग से पैसे वापस मिलते, तो शायद पैसों को लेकर कम ही फसाद होता। ज़ाहिर है कि हमें इस प्रकार के तकनीकी सवालों के राजनैतिक जवाब तलाशने होंगे। उन पर न तो अभी निर्णय लिया जा सकता है, न आज ही निर्णय लेना ज़रूरी है।

एक अन्तिम बिन्दु का भी यहाँ उल्लेख होना चाहिए। गरीबी का खतरा या डर ही अधिकांश लोगों को पराश्रित बनाता है। कोई भी देश, वह देश भी जो हरेक को सुनिश्चित आय उपलब्ध करवाता हो, न तो गरीबी कम कर सकता है, न उसका भय ही दूर कर सकता है। ऐसा तब तक नहीं होगा जब तक वह देश सम्मानजनक जीवन जी पाने के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि को कम या कम से कम स्थाई नहीं कर देता। किसी देश के जीवन की गुणवत्ता के स्तर की सही जाँच इसी बात से हो सकती है कि उसके गरीबतम लोग कितनी अच्छी तरह जी पा रहे हैं।

23. कानूनी व वित्तीय दायित्व का अधिकार

बच्चों और किशोरों को दो अधिकार दिए जाने चाहिए जो फिलहाल उनके पास नहीं हैं। पहला है कानून की सम्पूर्ण व समान सुरक्षा। दूसरा है, अगर व्यक्ति चाहे तो कानूनी व वित्तीय रूप से ज़िम्मेदार नागरिक के रूप में जी सके।

पहले अधिकार से मेरा मतलब है बच्चों को अन्य लोगों या सरकार के मनमाने कृत्यों से ठीक वैसा ही संरक्षण मिलना चाहिए जो कानून व उसके प्रावधान वयस्कों को देते हैं। साथ ही, किसी भी स्थिति में कानून द्वारा बच्चों के साथ किया जाने वाला व्यवहार वयस्कों के साथ किए जाने वाले बर्ताव की तुलना में बुरा नहीं होना चाहिए। फिलहाल ये दोनों ही बातें मौजूद नहीं हैं। अधिकांश लोग सोचते हैं कि कानून बच्चों के प्रति अधिक दयालुता और कोमलता बरतता है, क्योंकि हम उनकी कम उम्र और अनुभवहीनता के कारण कुछ गुंजाइश रखना चाहते हैं। पर सच्चाई यह है कि हम उनसे वयस्कों की तुलना में कहीं खराब व्यवहार करते हैं। आज बड़ी संख्या में बच्चे और किशोर जेलों में हैं - यानी ऐसी संस्थाओं में हैं जहाँ से वे अपनी मर्जी से निकल नहीं सकते और जहाँ उनसे आम तौर पर कठोर, निर्दयतापूर्ण और क्रूर व्यवहार किया जाता है। वे इन संस्थाओं में इसलिए नहीं हैं कि उन्होंने कुछ *किया* है, बल्कि इसलिए हैं क्योंकि सरकार ऐसा कोई व्यक्ति या परिवार नहीं तलाश सकी है जो उन्हें "प्रेम, सरोकार आदि" दे सके। यही उनकी तथाकथित ज़रूरत है। कई दूसरे बच्चे और किशोर जेलों में उन कृत्यों के लिए ठूँसे गए हैं जिन्हें अगर कोई वयस्क करता तो वह कृत्य न अपराध माना जाता, न कोई भूल ही। और वास्तविक अपराधों के लिए जेलों में भेजे गए कई बच्चे व किशोर ठीक वही अपराध करने वाले वयस्कों की तुलना में कहीं अधिक समय वहाँ बिताते हैं।

उदाहरणों की बाढ़ में से मैं कुछ उदाहरण सामने रखता हूँ। 25 दिसम्बर 1972 की *टाइम* पत्रिका में छपे एक लेख "चिल्ड्रेन्स राइट्स : द लेटेस्ट क्रूसेड" (बाल अधिकार : ताज़ा जिहाद) में लिखा गया था:

किशोर जेरल्ड गॉल्ट ने सोचा होगा कि वह एक मज़ाक कर रहा है। उसने पास ही एरिज़ोना में ग्लोब नामक स्थान पर रहने वाली एक गृहणी को फोन किया। उसने कुछ ऐसी टिप्पणियाँ कीं जिन्हें

सर्वोच्च न्यायालय ने बाद में “किशोर उम्र की सेक्स सम्बन्धी बेहूदी टिप्पणियाँ या सवाल” घोषित किया। बच्चे का कोई वकील नहीं था। गृहणी ने सार्वजनिक रूप से अपना बयान नहीं दिया। मामले की सुनवाई का कोई रिकॉर्ड नहीं रखा गया। और अपील करने की सम्भावनाएँ भी नहीं थीं। अगर वह वयस्क होता तो गॉल्ट को इस अपराध का *अधिकतम दण्ड दो माह* [इटैलिवक्स मेरी तरफ से, विशेष ध्यान के लिए] का कारावास मिलता। किन्तु वह केवल 15 साल का था। अतः उसे 21 वर्ष का होने तक राजकीय औद्योगिक विद्यालय में भेज दिया गया। 1967 में सर्वोच्च न्यायालय ने जब उसे रिहा किया तब तक दो वर्ष हो चुके थे।...

इसी आलेख में एक दूसरी जगह हम पढ़ते हैं:

...16 वर्ष के पैम का दृष्टान्त लें। उसकी माँ, पिता द्वारा त्याग दिए जाने पर, जीवन से जूझ रही थी और वह पैम को संभाल नहीं पा रही थी। अतः उसने पैम को सरकार को सौंप दिया। शिकागो के वकील पैट्रिक मर्फी बताते हैं कि “पैम एक बेहद तेज़ और संवेदनशील बच्ची है। पर वह बहुत आकर्षक नहीं है। उसे एक दत्तक परिवार में साल भर के लिए भेजा गया। इसके बाद वह वापस बाल अपराधी गृह में लौटी [मेरी टिप्पणी : हम इन जेलों को “गृह” क्यों कहते हैं?], वहाँ से इल्गिन राजकीय चिकित्सालय में गई। अपने रंग-रूप पर दूसरे बच्चों के तानों के कारण वह उनसे लड़ती थी। इल्गिन में स्थिति और खराब हुई [मेरी टिप्पणी : स्थिति खराब हुई, कहकर भला कौन-सी सच्चाई छुपाई गई है?], अतः उसे 28 दिनों तक बिस्तर से बाँधकर रखा गया। जब उसे छोड़ा गया तो उसने मेट्रन को मारा। अतः उसे अगले 30 दिनों के लिए बन्धन में रखा गया। इस समय तक वह उस स्थिति में पहुँच गई थी जहाँ उसे वास्तव में मनोचिकित्सा की ज़रूरत थी।”

पर मैं सुझाना चाहूँगा कि पैम की दरअसल ज़रूरत इस बात की थी कि सरकार अपने गन्दे हाथ उससे दूर रखे। बहरहाल वह लेख आगे चलता है:

...शिकागो की कुक काउण्टी के बाल न्यायालय में पिछले वर्ष 28,740 प्रकरणों पर विचार हुआ था। इनमें से केवल 3500 गम्भीर जुर्म के मामले थे। 9200 दृष्टान्त माता-पिता की लापरवाही या घर से भागने से सम्बन्धित थे। घर से भागने के कई दृष्टान्तों में भागने का जायज़ कारण था - क्रूरता, उदासीनता या उपेक्षा। “माता-पिता

को बच्चों को मारने की छूट है,” स्टैनफोर्ड काट्ज कहते हैं, “और तब तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती जब तक बच्चा गम्भीर रूप से घायल न हो जाए।”...एक दत्तक परिवार के साथ रह रही मैसाच्यूसेट्स की एक हठीली 15 वर्षीय किशोरी को अदालत में इसलिए घसीटा गया क्योंकि उसने अपने दत्तक माता-पिता द्वारा बनाए गए नियम - वह लड़कों से बात नहीं करेगी - को तोड़ा था। उसे “चरित्रहीन लड़की” घोषित किया गया, पर अदालत कोई दण्ड तय नहीं कर सकी।

“चरित्रहीन”, “दण्ड” और यह सब महज़ इसलिए कि उसने लड़कों से बात नहीं करने के आदेश को नहीं माना था। शायद कानून में कहीं यह भी दर्ज किया जाना चाहिए कि बच्चों को यह अधिकार है कि वे जिससे चाहें बात कर सकते हैं। यह सब कितना अविश्वसनीय है। पर वह आलेख आगे चलता है। मैं यहाँ जोड़ दूँ कि नीचे दी जा रही घटना अब उत्तरोत्तर आम हो चली है:

...हाल में पूरा शिकागो छह वर्षीय जॉनी लिण्डक्विस्ट के प्रकरण से सकते में आ गया। माता-पिता की इस घोषणा के बाद कि वे उसकी देखभाल नहीं कर सकते, वह मज़े से अपने दत्तक परिवार में रह रहा था। कुछ समय बाद माता-पिता ने अपना मन बदला और सामाजिक कार्यकर्ताओं [मेरी टिप्पणी : व्यावसायिक सहायकों] ने उसे माता-पिता के पास वापस लौटा दिया, हालाँकि बच्चे ने अपने पिता के प्रति भय अभिव्यक्त किया था। पुलिस के अनुसार, चार माह बाद, पिता ने उसे संज्ञाहीन होने तक मारा। जॉनी का सिर फट गया। चार सप्ताह तक बेहोश पड़े रहने के बाद वह मर गया। फलस्वरूप इलिनॉए की एक सिनेट समिति विचार कर रही है कि क्या उसे भी अपने बाल-देखभाल नियमों को बदलकर कैलीफ़ोर्निया के नियमों की तरह नहीं बना डालना चाहिए, जहाँ अभिरक्षण के मामले में बच्चे की इच्छाओं पर भी “वाजिब बल” दिया जाता है, बशर्ते कि वह “पर्याप्त आयु का हो चुका हो व तर्कशक्ति रखता हो।”

मुझे नहीं मालूम कि इलिनॉए की विधान सभा इस नियम पर क्या कार्यवाही करेगी। मुझे शंका है कि यह नियम पारित किया भी जाएगा। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि अगर यह कानून किताबों में दर्ज होता तो भी उसका जॉनी लिण्डक्विस्ट या उस जैसे बच्चों के प्रकरण में रत्तीभर फर्क नहीं पड़ता। आज संयुक्त राज्य अमरीका में व्यावसायिक सहायकों का और बच्चों के संरक्षकों का कौन-सा समूह होगा जो यह स्वीकारेगा कि दस वर्षीय बच्चे “पर्याप्त आयु व

तर्कशक्ति” वाले हैं? किन्तु ठीक यही तो उपरोक्त दृष्टान्त का तर्क है जिससे *टाइम* पत्रिका पूरी तरह चूकी। इस मामले में *जॉनी ही सही था*। उसका फैसला और उसकी तर्कशक्ति सरकार तथा उसके वयस्क विशेषज्ञों से कहीं अधिक सटीक थे। *उसे पता था*। उन्हें नहीं। पर क्या हम भविष्य में किसी दूसरे छह वर्षीय बच्चे की बात को ध्यान से सुनेंगे जब वह कहेगा कि उसे मालूम है कि वह क्या चाहता है, और उसकी क्या ज़रूरत है? मुझे सम्भव नहीं लगता कि ऐसा होगा।

...येल लॉ स्कूल के वकील-मनोविज्ञानी जोसेफ गोल्डस्टाइन उन कानूनी अभिरक्षा अधिनियमों का विरोध करते हैं जो अनाथ बच्चे को उसके निकटस्थ रिश्तेदारों को सुपर्द कर देते हैं।...[वे] उन कानूनों को बेहतर मानते हैं जो यह निर्णय न्यायाधीश के विवेक पर छोड़ते हैं, जो उचित लगे तो बच्चे को उन दूर के रिश्तेदारों या घनिष्ठ मित्रों को सुपर्द करे जिन्हें उस बच्चे से लगाव हो।

ज़ाहिर है कि यह एक सुधार होगा। पर बच्चे के विवेक पर कुछ छोड़ने के विषय में हमारा क्या सोचना है? इस मामले में उसकी राय क्यों नहीं पूछी जाती? आलेख के अन्त में हम उसी जगह पहुँचते जाते हैं जहाँ से हम शुरू हुए थे। यहाँ उद्धृत वक्तव्य को मैं असाधारण कहता, सिवाय इसके कि अधिकांश लोग ठीक इसी तरह सोचते और ठीक यही कहते हैं:

चुनौती यह होगी कि बच्चे के अधिकारों को इस प्रकार परिभाषित किया जाए कि उत्पीड़न के विरुद्ध उसका संरक्षण व्यापक बने पर उससे माता-पिता की सत्ता के मानसिक लाभों में कोई कमी न आए। “क्योंकि ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे सरकार माता-पिता द्वारा उपलब्ध करवाई जाने वाली चौबीसों घण्टों, सातों दिन और साल के 52 सप्ताहों की देखभाल बच्चे को उपलब्ध करवा सके।”

बकवास। अब्बल तो कोई भी माता-पिता ऐसी देखभाल करते ही नहीं, न दुनिया के समूचे इतिहास में किसी ने की है। लोगों के पास करने को तमाम काम हैं। किसी बच्चे को (अगर वह कृत्रिम लौह फेफड़ों के सहारे न जी रहा हो) ऐसी देखभाल की ज़रूरत भी नहीं है। अगर उसकी ऐसी देखभाल की जाए तो वह पागल ही हो जाए। ईश्वर बच्चों को उन लोगों से बचाए जिन्हें जीवन में बच्चों की चिन्ता करने के अलावा कोई काम ही नहीं हो। परन्तु इसके अलावा *टाइम* पत्रिका द्वारा की गई माँग कि सत्ता में कमी किए बिना सत्ता के दुरुपयोग से बचाव को बढ़ाना - यह असम्भव है। मात्र एक विरोधाभास है। माता-पिता

द्वारा अपनी सत्ता के दुरुपयोग से समुचित संरक्षण तब तक हो ही नहीं सकता जब तक पीड़ित बच्चे-बच्ची को उससे बच निकलने का अधिकार न दे दिया जाए।

टाइम पत्रिका “माता-पिता की सत्ता के मानसिक लाभ” बताते हुए जिस सत्ता की बात करती है वह सहज या प्राकृतिक सत्ता है ही नहीं। वह तो बाध्य करने, धमकाने, दण्डित और पीड़ित करने वाली शक्ति है। सच्चाई यह है कि बच्चों को माता-पिता या कानून लगातार दण्डित कर सकते हैं और करते भी हैं। यह दण्ड किसी भी कारण से दिया जा सकता है। और उन तमाम कारणों से भी दिया जाता है जिनके चलते गुलामों को सज़ा दी जाती थी। पलटकर जवाब देने के कारण, “असम्मान” जताने के कारण, आज्ञा न मानने पर, बिना अनुमति घूमने निकल जाने पर या घर से भागने पर। संक्षेप में, बच्चे को ऐसा कुछ भी करने पर दण्डित किया जाता है जो यह दर्शाता हो कि वह स्वतंत्र है या उसके भी अधिकार हैं।

हम 27 जून 1973 को *द न्यू यॉर्क टाइम्स* में छपी खबर के कुछ अंशों पर नज़र डालते हैं। उसका शीर्षक था “चाइल्ड अब्यूस हेल्ड ए लीडिंग किलर” और लेखक थे जेन ब्रोडी:

इस देश के छोटे बच्चों में मृत्यु का एक आम कारण है बच्चों के साथ किया गया दुर्व्यवहार। यह बात चिकित्सकों के एक सम्मेलन में कल रात कही गई।

बाल दुर्व्यवहार की समस्या के राष्ट्रीय विशेषज्ञ डॉ. विन्सेंट जे. फौंटाना ने यह भी बताया कि दुर्व्यवहार के कारण इस वर्ष 50,000 बच्चों की मृत्यु और 3,00,000 बच्चों के स्थाई रूप से क्षतिग्रस्त होने की सम्भावना है...

उन्होंने अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में कहा कि बाल दुर्व्यवहार के व्यापक प्रचलन के बावजूद चिकित्सक इस समस्या के प्रति अपनी आँखें मीच लेते हैं। सरकार भी बचाव कार्यक्रमों को सहयोग नहीं देती और जनता बाल उत्पीड़न की उस व्यापकता से अनभिज्ञ ही है जो अब एक महामारी का रूप लेने लगा है...

डॉ. फौंटाना के अनुसार सार्वजनिक ध्यान को आकर्षित करने वाले प्रत्येक प्रकरण के पीछे एक दर्ज़न ऐसे भी दृष्टान्त होते हैं जिनकी न तो पहचान हो पाती है न कोई शिकायत दर्ज होती है।

“यह मानना भूल है कि यह बीमारी गरीब, कच्ची बस्तियों तक सीमित है, या ऐसे कृत्य वे लोग करते हैं जो मानसिक रूप से बीमार हैं;” डॉ. फॉटाना ने अपने सम्बोधन से पहले आयोजित प्रेस कॉन्फ्रेंस में बताया। “मध्यम वर्ग में बच्चों की मार-पीटाई अक्सर बन्द दरवाज़ों के पीछे होती है। अमूमन इस पर चिकित्सकों का ध्यान नहीं जाता और अगर जाता भी है तो चिकित्सक परिवार की रक्षा करते हुए इसकी रिपोर्ट नहीं करता। और इस प्रक्रिया में वह बच्चे की रक्षा करने में असफल होता है।”...

बुकलीन के डाउनस्टेट मेडिकल सेंटर के बाल मनोचिकित्सक डॉ. आर्थर ग्रीन ने प्रेस कॉन्फ्रेंस में बताया कि बच्चों का उत्पीड़न करने वाली साठ माताओं का एक अध्ययन किया गया। अध्ययन से पता चला कि ये महिलाएँ एकांकी, अपरिपक्व, शक्की व किसी पर भरोसा न करने वाली महिलाएँ थीं। वे स्वयं तमाम समस्याओं से जूझ रही थीं।

परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि “अधिकांश मनोविकृत नहीं थीं। बल्कि उनकी अपने बच्चे पर मानसिक आश्रितता पाई गई। बच्चों की ज़रूरतों को पूरा करने की बजाए वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा अपने बच्चों से करती थीं। अगर ऐसी माताओं को यह लगे कि बच्चा उन्हें अस्वीकार रहा है या वह उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप काम नहीं करता तो वे उसका उत्पीड़न करती हैं।”

[इटैलिक्स मेरी ओर से विशेष ध्यान के लिए]

स्कूलों की ओर बच्चों द्वारा स्कूल जाना या न जाना चुनने के अधिकार की चर्चा की ही तरह मैं यहाँ यह बहस नहीं करना चाहता कि बच्चे का सबसे अच्छा संरक्षक कौन है - उसके माता-पिता या उसके संस्थागत या व्यावसायिक संरक्षक। कई बार माता-पिता ही बच्चे का वास्तविक पक्ष लेते हैं। वे शिक्षकों, चिकित्सकों, मनोवैज्ञानिकों या अन्य विशेषज्ञों से उसे बचाते हैं, जो सच में उसे नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। पर अक्सर दूसरे पैर का जूता भी काटता है और सरकारी कर्मचारी विनाशकारी माता-पिता से बच्चे को बचाने की चेष्टा करते हैं। टाइम पत्रिका की कहानी स्थिति को स्पष्ट कर देती है। इससे अधिक स्पष्टता भला कैसे सम्भव है? जॉनी लिण्डक्वेस्ट के पिता ने उसकी हत्या की; पैम के संस्थागत संरक्षकों ने उसे 58 दिनों तक बिस्तर से बाँधे रखा। [ईश्वर ही जानता है कि इसके अलावा उस पर क्या कुछ गुज़रा होगा - सरकार के हाथों में उसका जीवन तो अब शुरू हुआ है। भविष्य उसके लिए क्या लाएगा इसका किसे पता है?]

बात दरअसल यह है कि हम हमेशा-हमेशा के लिए यह तय नहीं कर सकते कि बच्चों के लिए सबसे श्रेष्ठ क्या है - माता-पिता, शिक्षक, सलाहकार, मनोवैज्ञानिक, पारिवारिक अदालतें, न्यायाधीश या कोई दूसरा। *महत्वपूर्ण मसलों में स्वयं बच्चे के अलावा कौन बेहतर जान सकता है?* यह जानने के लिए कि कौन आपका दोस्त है, और कौन दुश्मन, कौन आपको नापसन्द करता है, क्रूरता करता है या आपको पीड़ा देता है, बच्चे का बड़ी उम्र का होना या बहुत चतुर होना ज़रूरी नहीं है। कोई भी पाँच वर्षीय बच्चा एक क्रूर शिक्षक और एक अच्छे शिक्षक के अन्तर को जानता है। वह इतना चतुर भी होता है कि क्रूर शिक्षक से भागने की इच्छा रखे। वयस्क ही इतने बेवकूफ होते हैं कि वे यह सोचने लगे कि क्रूर शिक्षक बच्चे के लिए शायद अच्छा सिद्ध हो। ऐसा नहीं कि वयस्क स्वयं ऐसे लोगों के पास रहना चाहते हैं जो उनकी अवमानना करें या क्रूरता का व्यवहार करें। एक पल भी नहीं। यह हम दूसरों से, खासकर बच्चों और किशोरों से ही कहते हैं कि पीड़ा नुकसान नहीं पहुँचाती, बल्कि फायदेमन्द होती है। परन्तु बच्चे को भी, दूसरों की ही तरह, यह अधिकार होना चाहिए कि वह उस व्यक्ति या वस्तु से दूर हो जाए जो उसे तकलीफ देती है और उस व्यक्ति की ओर बढ़े जो उसे लगता है उसकी मदद करेगा।

कानून से समान सुरक्षा के विषय में कुछ उद्धरण देता हूँ। इनमें से पहला है इनिड नेमी का आलेख जो 3 नवम्बर 1973 को *द न्यू यॉर्क टाइम्स* में छपा था:

तलाक के प्रकरणों के अलावा, न्यू यॉर्क के नाबालिग अमूमन कोई भी अदालती कार्यवाही प्रारम्भ नहीं कर सकते जब तक कि कोई वयस्क उनके लिए ऐसा न करे।

...बाल अधिकारों में दो बड़ी कमियाँ हैं। इनमें से एक है उन्हें किसी भी चरण में मामला दायर करने के अधिकार से वंचित रखना...

श्रीमती उविलर...उन अदालती प्रक्रियाओं से दुखी हैं जिन्हें गैर-अपराधी नाबालिगों (ऐसे व्यक्ति जिन्हें देखरेख की ज़रूरत है) के लिए अपनाया जाता है। “जिस बच्चे ने किसी प्रकार से कानून का उल्लंघन नहीं किया है... जो अड़ियल हो, सुधारातीत हो [मेरी टिप्पणी : मतलब जो यह कहती हो कि उसे लड़कों से बात करने का अधिकार है।] उसे कानूनी प्रक्रिया से बाहर रखना चाहिए। उन्हें मुख्यतः इसलिए अदालत में लाया जाता है क्योंकि माता-पिता परिस्थितियों से अभिभूत हो जाते हैं और सोचते हैं कि उन्हें यहाँ कोई मदद मिल सकेगी। परन्तु इन बच्चों के साथ जो बर्ताव होता है वह उससे भिन्न नहीं जो अपराधियों के साथ किया जाता है।”

श्रीमती पिपेल तथा डॉ. हॉफमैन द्वारा तैयार टिप्पणी में कहा गया कि मौजूदा बाल-अदालत व्यवस्था के तहत एक बच्चे या किशोर से उसकी आज्ञादी, उसी समान कृत्य करने वाले वयस्क की तुलना में, अधिक लम्बे समय के लिए छीन ली जाती है।

द *रियल पेपर* (बॉस्टन) में चक फ्रेजर ने 24 जनवरी 1972 को छपे अपने लेख “हाफवे टू रिफॉर्म : जैरी मिलर ओपन्ड द डोरस्” में लिखा:

...मैसाच्यूसेट्स के कई न्यायाधीश विधान सभा से वह शक्ति पाने की चेष्टा कर रहे हैं जिससे वे किसी बच्चे को “खतरनाक” घोषित कर सकें और महीनों तक बन्दी रख सकें। मैसाच्यूसेट्स की युवा सेवा शाखा के पूर्व अध्यक्ष मिलर ने कहा, “अभी तो वे यह कह रहे हैं कि इस सत्ता का वे बिरले ही उपयोग करेंगे, किन्तु आप उनके पिछले रिकॉर्ड में पाएँगे कि वे यह बात हर उस बच्चे के लिए कहते रहे हैं जो उनके सामने पेश किया गया था।”

हावर्ड जेम्स की पुस्तक *चिल्ड्रन इन ट्रबल* (पॉकेट बुक्स), लैरी कोल की *अवर चिल्ड्रन्स कीपर्स* तथा लुइस फोरे की *नो वन विल लिसन* हमें इस विषय में काफी कुछ बताती हैं। जेम्स लिखते हैं कि बच्चों के “संरक्षण” के लिए बनाए गए कानून और संस्थाओं में बच्चों के साथ कैसा बर्ताव किया जाता है:

हज़ारों बच्चे - कुछ तो मात्र सात या आठ साल की उम्र के - कई महीने, यहाँ तक कि वर्ष, ऐसे कृत्यों के लिए सलाखों के पीछे गुज़ारते हैं जिनके लिए किसी वयस्क को घण्टे भर के लिए भी जेल नहीं भेजा जा सकता।

अपराध एवं बाल-अपराध की राष्ट्रीय परिषद का अनुमान है कि “संयुक्त राज्य अमरीका में प्रतिवर्ष एक लाख से भी अधिक सात से सत्रह वर्ष के बीच के बच्चे जेलों में या जेल सरीखे स्थानों में हिरासत में रखे जाते हैं...। इस तथ्य का महत्व केवल इतना नहीं है कि वे इतनी बड़ी संख्या में बन्दी बनाए जाते हैं, या यह कि जिन जेलों में वे रखे जाते हैं वे जेलें फेडरल ब्यूरो ऑफ प्रिज़न्स की निरीक्षण सेवा द्वारा वयस्क अपराधियों के लिए भी अनुपयुक्त करार दी गई हैं, बल्कि यह कि वास्तव में उन्हें ऐसे स्थानों में बन्दी बनाने की ज़रूरत ही नहीं थी।” व्यावसायिक कार्यकर्ताओं द्वारा तैयार किए गए वृत्तान्तों को पढ़ने से और परेशानी में फँसे सैकड़ों बच्चों के साथ साक्षात्कार करने के बाद मैंने पाया कि प्रत्येक बाल अपराधी का घर ही अनुपयुक्त था। कई बार माता-पिता की नशे

की आदत जैसी गम्भीर समस्याएँ होती हैं। कई बार बच्चे की अवमानना होती है या उसे लगता है कि उसे अस्वीकार किया जा रहा है। मुझे ऐसे सैकड़ों बच्चे मिले हैं। कभी-कभी उनकी इतनी बुरी तरह और इतनी बार पिटाई हुई है कि उन्हें *लगता है कि कोई उनसे प्यार नहीं करता।* [इटैलिक्स मेरी ओर से, विशेष ध्यान के लिए]। लड़कियों का उनके पिता द्वारा यौन शोषण के दृष्टान्त भी मिले हैं।

“इतनी बुरी तरह और इतनी बार पिटाई हुई है कि उन्हें लगता है कि कोई उनसे प्यार नहीं करता” कटाक्ष के शब्द नहीं हैं। श्री जेम्स ये शब्द चेहरे पर कोई भाव लाए बिना कह रहे हैं। सम्भव है कि बच्चों ने उनसे बात करते समय ठीक इन्हीं शब्दों का उपयोग भी किया हो। ऐसे शब्द और ऐसी सोच भयावह है। एक मर्तबा ही जमकर की गई धुनाई मुझे यह विश्वास दिला दे कि पीटने वाला मुझे प्यार नहीं करता। अगर “प्यार” की कीमत पिटाई द्वारा चुकाई जानी है तो मैं ऐसे प्यार के बिना ही काम चला सकता हूँ।

अटलांटा में एक प्रखर सोलह वर्षीय लड़के मिलर्ड को उसकी दत्तक माता से हुई बहसों के कारण लोक कल्याण विभाग ने कई उद्दण्ड छोरों के साथ जेल में ठूस दिया था। यद्यपि उसने कोई कानून नहीं तोड़ा था। उस महिला ने तय कर लिया कि वह एक बगावत करने वाले किशोर से निपट नहीं सकती। [हावर्ड जेम्स, पृष्ठ 31]

जेलों में छोटे लड़कों पर वयस्क बन्दियों द्वारा समलैंगिक हमले आम हैं। अन्य शहरों के अलावा शिकागो व फिलेडल्फिया में भी ऐसा अक्सर होता है। [हावर्ड जेम्स, पृष्ठ 33]

इन संस्थाओं में बच्चों को मारने या चाबुकों से पीटने का काफी प्रचलन है। संस्थाओं के प्रभारियों ने जेम्स को बताया कि जब कभी पिटाई रोकी जाती है तो लड़कों के भागने की दर बढ़ जाती है। ऐसे में जनता तब तक शोर मचाती है जब तक पिटाई वापस न शुरू हो जाए।

[जिम] को पहले 12 वर्ष की आयु में मारिआना [फ्लौरिडा बालक विद्यालय] भेजा गया। यहाँ उसे दो साल और दो माह तक रोके रखा गया। इस दौरान दरबानों ने उसकी पिटाई की और दो बार उस पर कोड़े बरसाए। एक बार तो इसलिए क्योंकि उसने *अपने से बड़े एक लड़के से झगड़ा किया था जो उससे ज़बरदस्ती समलैंगिक सम्भोग करना चाहता था।* [इटैलिक्स मेरी ओर से, विशेष ध्यान के लिए]

श्री जेम्स के अनुसार, मारिआना कस्बे के बाशिन्दों ने कोड़े लगाने की परिपाटी फिर से शुरू करने की माँग की थी। कई बार तो यह लगता है कि अमरीकियों की सज़ा की भूख क्रूर व्यावसायिक “खेलों” या मौजूदा फिल्मों, किताबों और पत्रिकाओं भर से सन्तुष्ट नहीं होती। सकारात्मक सन्तोष पाने के लिए उन्हें यह महसूस करने की आवश्यकता होती है कि जेलों में ठूँसे गए लोग पीड़ा भोग रहे हैं। इस सबसे उन्हें वितृष्णा भी नहीं होती। क्या हम अपने बच्चों का उपयोग प्रेम की वस्तुओं की तरह करने के बदले घृणा के पात्रों के रूप में भी कर रहे हैं, ताकि दुनिया पर हमारी नाराज़गी शान्त हो जाए?

बच्चों के साथ हमारे दुर्व्यवहार की अक्सर भारी कीमत चुकानी पड़ती है। कोई अन्दाज़ भी नहीं लगा सकता कि एक बच्चे को किसी ऐसी संस्था में रखने का क्या खर्च आता होगा जहाँ शिक्षण या मनोरंजन की कोई सुविधा न हो, वयस्कों से कोई सम्पर्क न हो, जहाँ उसे समुचित भोजन न मिलता हो, जहाँ वह एक बड़े कमरे की खाट पर या बरामदे में सोने पर मजबूर हो, जहाँ गार्ड ही उससे दुर्व्यवहार करते हों, पीटते हों या उस पर हमले करते हों। हाल के वर्षों में छपी खबरों के अनुसार मैसाच्यूसेट्स राज्य में इस “उपचार” की लागत 10 हज़ार से 14 हज़ार डॉलर प्रति वर्ष तक होती है! संस्थाओं के हिसाब से इस राशि में कुछ अन्तर होता है। जैसा एक लेख के लेखक ने संकेत दिया था। इस राशि से बच्चे को राज्य के सबसे महँगे आवासीय स्कूल या कॉलेज में पढ़ने भी भेजा जा सकता है और वह अपनी छुट्टियाँ बॉस्टन के बेहतरीन होटलों या रिज़ॉर्टों में बिता सकता है। हम कहते हैं कि बच्चे निर्णय नहीं ले सकते, अपने विवेक का उपयोग नहीं कर सकते। परन्तु सच्चाई यह है कि कोई भी आठ वर्षीय बच्चा जिसके पास साल भर के लिए बारह हज़ार डॉलर हों, अपने लिए पुलिस और संरक्षकों की सरकारी फौज से बेहतर व्यवस्था कर सकता है। *टाइम* पत्रिका ने जॉनी लिंडक्विस्ट की कहानी के प्रारम्भ में छापा था, “किन्तु छोटे बच्चों को यूँ छुट्टा भी नहीं छोड़ा जा सकता”। इस पर मेरा प्रश्न है, और मैं पूरी गम्भीरता से जानना चाहता हूँ, कि ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता? अगर उन्हें कोई वास्तव में प्यार नहीं करता, चाहता ही नहीं, और अगर उनके पास कोई ऐसा स्थान भी नहीं है जहाँ वे जा सकें, तो हम उन्हें खुद जीने लायक पैसे क्यों नहीं उपलब्ध करवा देते? यह राशि उसकी “देखभाल” में खर्ची जाने वाली राशि का एक हिस्सा मात्र होगी। वे अपनी देखभाल उस इतालवी बच्चे की तरह बेहतर कर सकेंगे जो युद्ध के दौरान बिना एक पाई के जी रहा था। उसकी स्थिति जॉनी लिंडक्विस्ट से तो बेहतर थी, या विलोब्रुक के उस बच्चे से जिसे अन्धा कर दिया गया था, या...पर ऐसे बच्चों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबका उल्लेख करना मुश्किल है।

मुझे लगता है कि मुझे वृत्त-चित्र निर्माता फ्रेंड वाइज़मैन (*टिटिकट फॉलीज़, हाई स्कूल, लॉ एण्ड ऑर्डर, बेसिक ट्रेनिंग, हॉस्पिटल* आदि के निर्माता) ने यह कहानी सुनाई थी। वे अपने वृत्त-चित्र *जुवेनाइल कोर्ट* के लिए विषय तलाश रहे थे और “बाल न्याय व्यवस्था” के विभिन्न पक्षों पर शोध कर रहे थे। इस दौरान उन्होंने खुद को एक अदालत में पाया जहाँ तीन-चार वयस्क एक 15 वर्षीय लड़के के प्रकरण पर चर्चा कर रहे थे। सभी विशेषज्ञ - शायद एक न्यायाधीश, एक वकील, एक मनोवैज्ञानिक आदि - इस चर्चा में व्यस्त थे कि उसके साथ क्या किया जाए। वह किशोर कक्ष के दूसरे कोने में बैठा था। वह बीच-बीच में अपनी आवाज़ उठाकर कहता था, “मुझे सिर्फ एक न्यायपूर्ण मुकदमा चाहिए, जैसा दूसरों के साथ चलाया जाता है। बस एक न्यायपूर्ण मुकदमा।” उसे अपनी ऊर्जा खर्चनी ही नहीं चाहिए थी। उसे एक न्यायोचित मुकदमा *मिलने ही नहीं* वाला था। वास्तव में तो *कोई* मुकदमा चलाया ही नहीं जाने वाला था।

पर ठीक यही मैं बच्चों और किशोरों के लिए चाहता हूँ - न्यायपूर्ण मुकदमे का अधिकार। उचित प्रक्रिया का संरक्षण और मुकदमा दायर करने का अधिकार। यह सच है कि गरीबों और अल्पसंख्यकों को भी न्याय नहीं मिलता। ऐसे तमाम वयस्क महीनों या सालों तक मुकदमा प्रारम्भ होने के इन्तज़ार में जेलों में सड़ते हैं। इसका कारण है ज़मानत की राशि का जुगाड़ न कर पाना। और जो ज़मानत की राशि जुटा भी लेते हैं वे अपने बचाव के लिए आवश्यक राशि नहीं जुटा पाते। मैं एक व्यक्ति को जानता हूँ जिसे अन्यायपूर्ण तरीके से स्कूल के प्रधानाचार्य पद की नौकरी से हटा दिया गया था। सिर्फ इसलिए क्योंकि छात्रों के साथ उसका व्यवहार दोस्ताना था। उन्होंने मामला अदालत में ले जाने का निर्णय किया। जब मैं उनसे मिला और उनके मुकदमे के लिए पैसा उगाहने के लिए एक बैठक में बोलने गया, तब तक वे पाँच हज़ार डॉलर से अधिक खर्च कर चुके थे। पर मामला अदालत में विचार के लिए पहुँचा तक नहीं था। कमोबेश यह कहा जा सकता है कि कानून अमीरों का है और न्याय उनके लिए है जो उसकी कीमत चुका सकते हैं। इस सबके बावजूद गरीब वयस्कों को बच्चों और किशोरों से बेहतर मौका मिल पाता है।

मैं बच्चों के लिए जो चाहता हूँ वह वयस्कों को प्रदत्त कानून के सम्पूर्ण संरक्षण से अधिक है। मैं चाहता हूँ कि बच्चों को यह निर्णय लेने का अधिकार भी दिया जाए कि वे अब बच्चे नहीं बने रहना चाहते। उन्हें किसी प्रकार के अभिभावकों पर आश्रित नहीं बने रहने का निर्णय लेने का अधिकार हो। उन्हें स्वतंत्र तथा वित्तीय व कानूनी रूप से ज़िम्मेदार नागरिक के रूप में रहने का अधिकार हो। मैं चाहता हूँ कि उन्हें हर प्रकार से बाल्यावस्था से बच पाने का अधिकार हो।

किसी बच्चे या किशोर को सम्पूर्ण कानूनी और वित्तीय ज़िम्मेदारी देने का क्या अर्थ होगा? ठीक वही जो आज किसी वयस्क के सन्दर्भ में होता है। इसका मतलब होगा कि व्यक्ति अपने सभी कृत्यों के लिए अन्य नागरिकों और कानून के प्रति जवाबदेह हो। इसका मतलब होगा कि वह दूसरों पर मुकदमा दायर कर सकता है और दूसरे उस पर। इसका मतलब होगा कि वह सम्पत्ति का मालिक हो सकता है, सम्पत्ति खरीद या बेच सकता है, अनुबन्ध कर सकता है, साख बना सकता है, ऋण ले सकता है, और तमाम ऐसे काम कर सकता है जो आज वयस्क कानूनी रूप से कर सकते हैं।

आदर्श स्थिति तो यही होगी कि बच्चा या किशोर किसी भी उम्र में यह चुन सके। शेष अधिकारों की ही तरह सम्भावना यही है कि अगर नागरिकता पाने की राह में खड़ी बाधाएँ नीची की जाएँगी तो ऐसा क्रमशः ही होगा। एक बार में साल या दो साल।

लोग पूछते हैं, “अगर कोई बच्चा सम्पूर्ण वित्तीय ज़िम्मेदारी लेने के बाद कर्ज़दार बन जाए और कर्ज़ चुका न सके तो क्या होगा?” जवाब है, वही जो दूसरों के साथ होता है। अगर वह ऋणदाताओं को रुकने का भरोसा न दिला सके, बाद में चुकारा करने का विश्वास न दिला सके तो वे या तो उसे अदालत में घसीटेंगे या फिर वह स्वयं को दिवालिया करार देगा।

इस स्थिति में उसकी सारी सम्पत्ति - उसकी मोटरसाइकिल, स्की, उसके तम्बू व दूसरे उपकरण, गाड़ी, साइकिल, स्टीरिओ सेट, जो कुछ उसके पास है - ज़ब्त हो जाएगी; जितनी राशि उन्हें बेचने से मिल सकती है इकट्ठी कर उसके कर्ज़दाताओं को दे दी जाएगी।

क्योंकि कोई बच्चा या किशोर नौकरीपेशा होने या सुनिश्चित आय पाने के बावजूद उतना पैसा नहीं कमा सकेगा जितना वयस्क कमाते हैं - बशर्ते वह कोई खेल या मनोरंजन के क्षेत्र का सितारा न हो - लोग उसे वैसे भी ज्यादा राशि उधार या कर्ज़ पर नहीं देंगे। कानून के यह कहने का कि मैं कर्ज़ ले सकता हूँ मतलब यह तो नहीं होता कि लोगों को मुझे कर्ज़ देना ही होगा। मुझे फिर भी कर्ज़दाताओं को यह विश्वास तो दिलाना ही पड़ता है कि उन्हें पैसा वापस मिलेगा। ज़ाहिर है ऐसे में बच्चे की साख कोई खास मज़बूत नहीं होगी क्योंकि कमा पाने की उसकी ताकत भी सीमित ही होगी।

स्वतंत्र नागरिक के रूप में जीना तय करने वाला बच्चा क्या अपने माता-पिता के साथ रह सकेगा? हाँ, पर केवल तब ही जब वे भी इसके लिए तैयार हों। उसे उनके साथ ठीक उसी प्रकार मोलतोल करना पड़ेगा जैसा किसी वयस्क मेहमान को करना पड़ता है। अगर उन्हें उसका साथ अच्छा लगे और वे उसे

घर में मेहमान की तरह रखना चाहें तो वे कह सकते हैं, स्वागत है। इसे अपना ही घर समझो। पर जब तक वह उन पर फिर से आश्रित न होना चाहे, उसके माता-पिता पर बच्चे को रखने का दायित्व नहीं होगा।

यह भी सही लगता है कि व्यक्ति को स्वतंत्र होने के विषय में जल्दी से अपना मन बदलने की छूट न हो। अब्बल तो इसके लिए किसी तरह के लेखे-जोखे की ज़रूरत होगी। आज किसी व्यक्ति को वयस्क नागरिक बनने के लिए केवल आयु का प्रमाण प्रस्तुत करना पड़ता है। किन्तु अगर कोई बारह साल का बच्चा स्वतंत्र बनना चाहता है तो उसे इसके लिए किसी प्रकार के रिकॉर्ड या पहचान-पत्र की आवश्यकता होगी। जैसे पासपोर्ट, या सोशल सिक्योरिटी कार्ड, या क्रेडिट कार्ड। उसे पहले इसका आवेदन करना होगा, शायद कुछ स्थानीय या अन्य सरकारी अधिकारियों के सामने कुछ प्रपत्र आदि भरने होंगे। इसी प्रकार जब वह अपनी स्वतंत्रता वापस लौटाकर फिर से आश्रित बनना चाहे तो उसे अधिकारियों को इसकी सूचना देनी होगी। इसके लिए भी किसी प्रक्रिया से गुज़रना होगा। बच्चों या किशोरों द्वारा नागरिकता हासिल करना कोई हँसी-मज़ाक का हल्का-फुल्का कृत्य नहीं हो सकता। वैसे ही तमाम लोग इसे बड़ा हल्का मानते हैं।

क्या नाबालिगों को नागरिक बनने के लिए कुछ योग्यताएँ पूरी करनी होंगी? अब क्योंकि अधिकतर लोगों को एक तयशुदा उम्र में पहुँचने के साथ ही नागरिकता तथा सम्पूर्ण वित्तीय और कानूनी ज़िम्मेदारी मिल जाती है, दूसरों के लिए कुछ योग्यताएँ तय करना अन्याय ही होगा। क्योंकि वे उम्र में छोटे हैं सिर्फ इसलिए कुछ शर्तें रखना उचित नहीं लगता। फिर भी एक खास उम्र से कम आयु वाले लोगों से यह पूछना शायद ठीक ही हो कि एक नागरिक के रूप में वे अपनी जिन ज़िम्मेदारियों और दायित्वों को अब स्वीकारने जा रहे हैं क्या उन्हें वे कुछ-कुछ समझते हैं? गाड़ी चलाना शुरू करने से पहले एक परीक्षा देनी होती है। किसी दूसरे देश में रहने वाले लोगों को भी नागरिकता पाने के लिए कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं। अतः सम्भव है कि जो बच्चे या किशोर नागरिक बनना चाहते हों उनसे कुछ बैठकों या चर्चाओं में भाग लेने या किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने को कहा जाए। यह खतरा भी हमेशा रहेगा कि परीक्षा पूरी ईमानदारी से न ली जाए। हम यही उम्मीद कर सकते हैं कि जो देश इतना प्रबुद्ध हो जाएगा कि वह अपने बच्चों और किशोरों को नागरिकता देने को प्रस्तुत होगा वह इतना ईमानदार भी होगा कि उन्हें इससे वंचित रखने के लिए बेईमानी नहीं करेगा।

मैं जानता हूँ कि मेरे द्वारा अभी कही गई बात मतदान के सम्बन्ध में कही बात से अलग है। पर मुझे लगता है कि नागरिकता और सम्पूर्ण वित्तीय व कानूनी

ज़िम्मेदारी का बोझ मतदान के लिए पंजीकृत होने से कहीं अधिक गम्भीर कृत्य है। क्योंकि मत नहीं डालने का निर्णय तो व्यक्ति कर सकता है, या मत किसे दें के बारे में मतदान केन्द्र में लिए गए निर्णय पर पछतावा ही क्यों न हो, वह किसी को भी मत दे सकता है। पर इसके लिए बाद में उसे न तो वित्तीय दण्ड देना पड़ता है और न ही इसकी सज़ा या जेल भुगतनी पड़ती है। इसी कारण से शायद यही उचित होगा कि नागरिक बनना चाहने वाले एक तयशुदा आयु से कम उम्र के लोग यह दर्शा दें कि वे इसका अर्थ कुछ हद तक तो समझते हैं।

24. अपने शिक्षण को नियंत्रित करने का अधिकार

बच्चों तथा किशोरों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने सीखने को खुद दिशा दे सकें। यानी यह तय कर सकें कि उन्हें क्या सीखना है, कब, कहाँ, कैसे, कितना, कितनी जल्दी और किस तरह की मदद से सीखना है। और भी स्पष्ट करते हुए कहूँ तो मैं चाहता हूँ कि उन्हें यह अधिकार हो कि वे स्वयं तय कर सकें कि वे सीखना चाहते हैं या नहीं और अगर सीखना चाहते हैं तो कब, कितना और किससे। यह तय करने का भी अधिकार हो कि क्या वे स्कूल में सीखना चाहते हैं, और अगर हाँ तो किस स्कूल में और कितने समय के लिए।

जीवन के अधिकार के सिवा कोई भी मानव अधिकार इतना मूलभूत नहीं है जितना सीखने का अधिकार। व्यक्ति के सीखने की आज़ादी वैचारिक आज़ादी का ही हिस्सा है, जो बोलने की स्वतंत्रता से भी अधिक मौलिक है। जब हम किसी से यह अधिकार छीन लेते हैं कि उसकी जिज्ञासा किस बारे में हो, तो हम उसके सोचने के अधिकार को ही नष्ट कर देते हैं। अर्थात् तब हम दरअसल उससे कह रहे होते हैं, तुम्हें उस बारे में नहीं सोचना है जिसमें तुम्हारी रुचि है और जिससे तुम्हारा सरोकार है, बल्कि उस विषय में सोचना है जिसमें हमारी रुचि है और जिससे हमारा सरोकार है।

हम इसे जिज्ञासा का अधिकार कह सकते हैं। उन सवालियों को पूछने का अधिकार जो हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण हैं। वयस्कों के रूप में हम यह मानकर चलते हैं कि हमें अधिकार है कि हम ही तय करें कि हमें क्या रोचक लगता है, हम किसे देखेंगे, क्या छोड़ देंगे। हम इस अधिकार को प्रदत्त मानते हैं; हम यह कल्पना तक नहीं कर सकते कि यह अधिकार हमसे छिन सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ यह अधिकार किसी नियम-कानून में दर्ज तक नहीं है। हमारे संविधान के रचयिताओं ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सोचा था कि बोलने की स्वतंत्रता और अपने विचारों को दूर-दूर तक प्रचारित करने का अधिकार सुनिश्चित करना काफी है। उन्हें यह सूझा तक नहीं कि सबसे तानाशाह सरकारें भी लोगों के दिमाग को, वे क्या सोचते और जानते हैं को नियंत्रित करना चाहेंगी। यह विचार तो बाद में अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा के जामे में छिपकर आया।

अपने सीखने को स्वयं नियंत्रित करने का अधिकार अब खतरे में है। एक निरंकुशतावादी विचार को अपने कानूनों में शामिल करने का कदम नीचे जाने वाले एक खतरनाक रास्ते पर उठा कदम था। वह विचार यह था कि सभी बच्चे या किशोर क्या सीखेंगे इसे कोई दूसरा व्यक्ति तय कर सकता है या उसे यह तय करना चाहिए। इसके भी परे जाकर, बच्चों और किशोरों को सीखने के लिए बाध्य करने के लिए जो कुछ भी ज़रूरी लगे (इसमें अब नशीली दवाएँ भी शामिल हैं) उसे भी किया जा सकता है। यह कानूनी ज़रूरत कि बच्चा प्रतिदिन छः घण्टों के लिए, साल में 180 दिन, लगभग दस सालों तक स्कूल जाए - चाहे वह वहाँ कुछ सीखे या नहीं सीखे, चाहे सिखाई जाने वाली चीज़ों को वह पहले से जानता ही क्यों न हो, या कहीं और अधिक गति से और बेहतर ही क्यों न सीखता हो - नागरिक स्वतंत्रता का ऐसा गम्भीर उल्लंघन है जिसे अधिकांश वयस्क नहीं स्वीकारेंगे। इसका विरोध करने वाले बच्चे को अपराधी करार दिया जाता है। इस ज़रूरत के साथ हमने एक उद्योग की रचना कर डाली है। ऐसे लोगों की एक फौज बना डाली है जिनका काम बच्चों और किशोरों को यह बताना है कि उन्हें क्या-क्या सीखना है और फिर उन्हें वह सब सीखने के लिए बाध्य करना है। ऐसे लोगों में से कुछ दूसरों पर अपनी सत्ता बढ़ाने के लिए और उनके लिए और भी अधिक “मददगार” बनने के लिए या इसलिए कि उद्योग पर्याप्त तेज़ी से नहीं बढ़ रहा, उसमें उन तमाम लोगों के लिए स्थान नहीं बन पा रहा जो उसमें घुसना चाहते हैं, अब कुछ और भी कहने लगे हैं। वे कहते हैं कि “अगर यह बच्चों के लिए अच्छा है कि हम ही उनके लिए तय करें कि उन्हें क्या सीखना चाहिए और उन्हें वह सब सीखने पर बाध्य करें तो यह बात शेष लोगों के लिए भी क्यों उचित नहीं है? अगर अनिवार्य शिक्षा अच्छी चीज़ है, तो उसमें अति हो ही कहाँ सकती है? हम किसी उम्र के व्यक्ति को यह निर्णय लेने की अनुमति ही क्यों दें कि वह काफी सीख चुका है? बड़ों या छोटों को यह अनुमति क्यों दें कि वह वह सब न जाने जो हम जानते हैं? खासकर तब जब उनका अज्ञान हमारे लिए भी बुरे परिणाम ला सकता है? हम उन्हें वह सब जानने पर मजबूर क्यों न करें जो उन्हें जानना चाहिए?”

वे अब कह रहे हैं कि शिक्षा गर्भ से कब तक (वूम्ब टू टूम्ब स्कूलिंग) होनी चाहिए। एक व्यक्ति ने इसे एक राष्ट्रीय टीवी शो में कहा था। अगर बच्चों के लिए कुछ घण्टों का गृहकार्य अच्छा है तो हम सबके लिए भी क्या यह अच्छा न होगा? और तो और यह हमें टीवी और ऐसे ही दूसरे घटिया कामों से दूर भी रखेगा। विशेषज्ञों का कोई दल कहीं बैठकर बड़ी खुशी से यह तय करेगा कि हमें क्या-क्या जानना-सीखना चाहिए। वह बीच-बीच में हम पर नज़र भी

रखेगा कि हम वह सब जान-सीख रहे हैं या नहीं, और अगर हम नहीं सीखते तो उसके लिए समुचित दण्ड भी तय करेगा।

मैं यह पूरी गम्भीरता से कह रहा हूँ कि अगर हम इसे रोकने के लिए उचित कदम नहीं उठाते तो यही स्थिति आएगी। जिस अधिकार की माँग मैं बच्चों और किशोरों के लिए कर रहा हूँ वही अधिकार मैं हम सबके लिए भी बचाए रखना चाहता हूँ। वह अधिकार यह तय करने का है कि हमारे दिमाग में क्या जाए। यह अधिकार इस निर्णय के अधिकार से कहीं अधिक है कि हमें स्कूल जाना है या नहीं, कब जाना है, कितने समय के लिए जाना है, या किस स्कूल में जाना है। यह अधिकार महत्वपूर्ण है। पर यह एक अधिक व्यापक, एक अधिक मूलभूत अधिकार का हिस्सा है। इसे मैं शिक्षण का अधिकार (राइट टू बीइंग एज्यूकेटेड), अर्थात् वह सीखने पर बाध्य होना जो कोई दूसरा आपके लिए उचित बताए, के विपरीत सीखने का अधिकार (राइट टू लर्न) कह सकता हूँ। मैं अनिवार्य रूप से स्कूल भेजे जाने (कम्पल्सरी स्कूलींग) के विरुद्ध नहीं हूँ, मैं अनिवार्य शिक्षा (कम्पल्सरी एज्यूकेशन) को खत्म करना चाहता हूँ।

यह तथ्य कई लोगों को भयभीत और क्रोधित करता है कि बच्चे स्वयं अपने सीखने को नियंत्रित कर सकेंगे और यह खुद तय कर सकेंगे कि कब, कितने समय और किस स्कूल में जाएँ। वे मुझसे पूछते हैं कि क्या आप यह कह रहे हैं कि अगर माता-पिता बच्चे को किसी एक स्कूल में भेजना चाहते हैं और बच्चा किसी दूसरे स्कूल में जाना चाहता है तो बच्चे को इस विषय में निर्णय लेने का अधिकार होगा? जी हाँ, ठीक यही मैं कहता हूँ। कुछ लोग यह भी पूछते हैं कि अगर स्कूल भेजना अनिवार्य नहीं होता तो क्या कई माता-पिता अपने बच्चों को स्कूलों से निकालकर उनके श्रम का किसी न किसी रूप में उपयोग नहीं करेंगे? ऐसे प्रश्न दम्भी होने के साथ-साथ पाखण्ड भरे होते हैं। प्रश्नकर्ता स्पष्ट शब्दों में कहे बिना यह मानता है, या संकेत करता है, कि ऐसे खराब माता-पिता दरअसल स्वयं उससे गरीब और कम शिक्षित हैं। साथ ही, यद्यपि वह बच्चों के पढ़ने-लिखने और स्कूल जाने के अधिकार की हिमायत करता प्रतीत होता है, वह दरअसल सरकार द्वारा चाहे-अनचाहे उन्हें बाध्य करने के अधिकार का पक्ष ले रहा होता है। संक्षेप में, वह बस इतना ही चाहता है कि बच्चे स्कूलों में होने चाहिए। इस मामले में उनको कोई विकल्प दिया ही नहीं जाना चाहिए।

स्कूल जाना है या नहीं जाना है, यह चुनने के अधिकार की बात करना यह कहना नहीं है कि माता-पिता के विचारों या इच्छाओं का कोई वज़न ही नहीं होगा। जब तक बच्चा माता-पिता से नाराज़ ही न हो गया हो, उनका विद्रोह

न करने लगा हो, उसे इस बात की चिन्ता रहती है कि माँ-बाप क्या सोचते हैं, क्या चाहते हैं। ज़्यादातर समय वह उन्हें नाराज़, चिन्तित या नाउम्मीद नहीं करना चाहता। अभी भी जिन परिवारों में माता-पिता यह मानते हैं कि शिक्षण को लेकर चयन के कुछ अधिकार बच्चों को भी हैं, वहाँ स्कूलों को लेकर खूब बहस और मोल-तोल होता है। ऐसे माता-पिता अपने छोटे बच्चों से भी अक्सर पूछते हैं कि वह नर्सरी में जाना चाहेगा या किंडरगार्टन में। या वे उसे कुछ समय के लिए स्कूल में ले जाते हैं और उसका अनुभव लेने देते हैं। या कई स्कूलों का विकल्प सामने हो तो उन सभी को दिखाते हैं ताकि वह सबसे अच्छे को चुन सके। बाद में भी उन्हें यह चिन्ता होती है कि बच्चे को स्कूल अच्छा लग रहा है या नहीं। अगर उसे स्कूल नापसन्द हो तो इस बारे में वे कुछ करने की कोशिश भी करते हैं। उसे वहाँ से निकालते हैं और ऐसा स्कूल तलाशते हैं जो उसे पसन्द आए।

मैं कई ऐसे माता-पिता को जानता हूँ जिनका सालों-साल तक अपने बच्चों से यह स्थाई समझौता था, “जिस किसी दिन तुम्हें स्कूल जाने का ख्याल ही बुरा लगे, तबियत ठीक न हो, या तुम्हें यह डर हो कि कुछ हो जाएगा, अपना कुछ काम हो जो तुम करना चाहते हो, तो उस दिन स्कूल जाने की ज़रूरत नहीं है।” ज़ाहिर है कि सारे स्कूल अपने विशेषज्ञों की मदद से इस नज़रिए का पुरज़ोर विरोध करते हैं - बच्चे की ज़िद के सामने मत झुको, उसे स्कूल ज़रूर भेजो, उसे कितना कुछ सीखना है। कुछ माता-पिता ऐसे हैं जो जब उनकी योजना बनती है कि वे रोचक यात्रा कर सकें तो वे अपने बच्चों को भी साथ ले जाते हैं। वे स्कूल से अनुमति भी नहीं लेते। अगर बच्चा साथ नहीं जाना चाहता है, स्कूल में ही रहना चाहता है, तो वे इसकी व्यवस्था भी करते हैं। कुछ माता-पिता, जब उनके बच्चे स्कूल में भयभीत हों, दुखी हों या पीड़ित हों, तो उन्हें वहाँ से निकाल लेते हैं। हैल बैनेट अपनी बेहतरीन किताब *नो मोर पब्लिक स्कूल* में इसके कई उपाय बताते हैं।

मेरी एक मित्र ने बताया था कि जब उसका बेटा तीसरी कक्षा में था तो उसकी शिक्षिका बड़ी खराब थीं। वे उसे डराती-धमकातीं, उसका अपमान करतीं, कटाक्ष करतीं, क्रूरता करतीं। कई बच्चों ने अपना सेक्शन बदल डाला। पर मेरी मित्र का बेटा बड़ा कड़ा था। वह उद्वण्ड और हठीला था, सो वहीं जमा रहा। एक दिन (इस घटना का माता-पिता को दो साल बाद पता चला) जब वह शिक्षिका के घटियापन से आजिज़ आ गया, वह उठा और बिना एक शब्द कहे कक्षा से निकला और घर लौट आया। उसकी मज़बूती और लचीलेपन के बावजूद यह अनुभव उसके लिए कड़वा था। वह दबू बनने लगा, झगड़ालू बना। उसका बहिर्मुखी स्वभाव और आत्मविश्वास घट गया। उसकी सामान्य

खुशमिज़ाजी खत्म हो गई। उसका सुलेख तक गड़बड़ाने लगा। उस वर्ष बसन्त में स्थिति पिछली सर्दियों से भी खराब हो चली। बसन्त की एक सुबह वह नाश्ता कर रहा था। कुछ समय बाद उसने नाश्ता करना बन्द कर दिया और चुपचाप बैठकर अपने सामने खड़े दिन पर सोचने लगा। उसकी आँखें भर आईं और दो मोटी-मोटी बून्दें गालों पर लुढ़क पड़ीं। अमूमन स्वयं को बच्चों के स्कूली जीवन से दूर रखने वाली उसकी माँ ने यह देखा और वे बात समझ गईं। “सुनो” वे बोलीं, “हमें यह जारी रखने की ज़रूरत नहीं है। अगर तुम्हारी टीचर तुम्हारे लिए स्कूल को इतना मुश्किल बनाए दे रही हैं, तो मैं बड़ी खुशी-खुशी तुरन्त तुम्हें वहाँ से निकालने को तैयार हूँ। तुम कहो तो हम सब प्रबन्ध कर लेंगे।” वह सकते में आ गया। नाराज़ हुआ, “ना, यह मैं नहीं कर सकता।” “ठीक है” माँ बोली “तुम्हें जो चाहिए हो मुझे बता देना।” बच्चे ने तय किया कि वह स्थिति का सामना करेगा, और ठीक यही उसने किया भी। पर मेरा पक्का विश्वास है कि माँ के पूरे साथ ने और इस भरोसे ने कि अगर न निभे तो वह स्कूल छोड़ सकता है ने ही उसे वह ताकत दी जो उसके लिए उस वक्त बेहद ज़रूरी थी।

बच्चों को अपने सीखने को नियंत्रित तथा निर्देशित करने का तथा स्कूल जाने या न जाने का निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिए, यह कहने का अर्थ यह नहीं कि कानून माता-पिता को इस मामले में अपनी राय, इच्छा या तीव्र आशा अभिव्यक्त करने से भी रोके। इसका मतलब केवल इतना भर है कि अगर माता-पिता की स्वाभाविक सत्ता इतनी मज़बूत न हो कि वे बच्चों से वह सब नहीं करवा सकते जो वे उससे करवाना चाहते हों, तो उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे पुलिस को बुलाकर उनसे यह सब करवाएँ। इसके साथ ही कानून यह भी कह सकता है कि अभिभावक अपने बच्चे पर जो दबाव डालते हैं उसकी भी एक सीमा है। वे बच्चे के विकल्प चुनने के कानूनी अधिकार का हनन नहीं कर सकते।

जब मैं कहता हूँ कि बच्चों को अपने सीखने को निर्देशित करने का अधिकार होना चाहिए तो एक तर्क लोग कई बार देते हैं। ऐसा इतनी बार होता है कि मुझे लगता है कि मुझे उसको सम्बोधित कर लेना चाहिए। तर्क कहता है कि स्कूल वह स्थान है जहाँ बच्चों को कुछ समय के लिए बाहरी दुनिया के कुप्रभावों से बचाया जा सकता है। खासकर दुनिया के लोभ, बेईमानी और बाज़ारीकरण से। यह भी कि स्कूलों में बच्चों को ऐसे लोगों की झलक भी मिलती है जो लोभ और भय के परे बेहतर कारणों से प्रेरित होते हैं। लोग कहते हैं, “समाज तो निकृष्ट है ही, और जल्दी ही बच्चे उसका सामना भी करेंगे, उससे भ्रष्ट होंगे। पर अगर हम बच्चों को, जितनी जल्दी वे चाहें, उस बड़ी

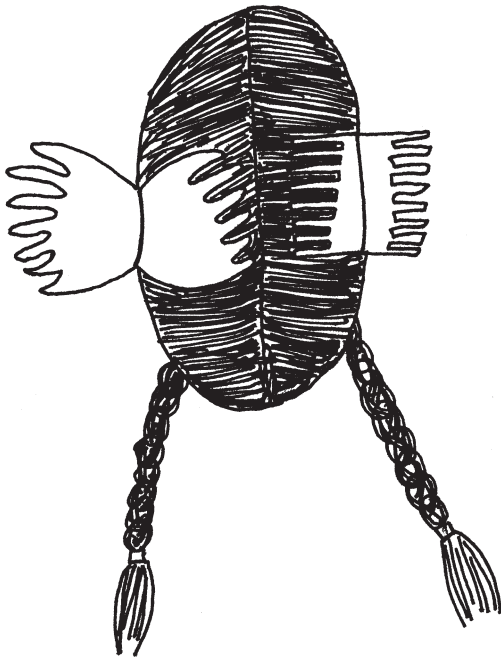
दुनिया में विचरने की छूट दे देंगे तो वे उतनी ही जल्दी उसके प्रलोभनों में फँसेंगे और भ्रष्ट हो जाएंगे।”

लगता है कि लोग स्कूलों को बाहरी दुनिया से बेहतर और अधिक ईमानदार स्थान मानते हैं। हार्वर्ड विश्वविद्यालय का मेरा एक मित्र उन्हें “सद्गुणों का अजायबघर” कहता था। या फिर लोग यह मानते हैं कि बाहर की तुलना में स्कूलों में लोग - बच्चे तथा वयस्क दोनों ही - कुछ उच्चतर तथा बेहतर उद्देश्यों से प्रेरित होकर काम करते हैं। यह धारणा भूल है। कुछ अच्छे स्कूल ज़रूर हैं। पर मोटे तौर पर वे बाहरी दुनिया के विपरीत या उसकी काट नहीं हैं। बाहरी दुनिया में जो जलन, भय, लालच व भयावह स्पर्धा नज़र आती है, स्कूलों में भी ठीक वैसी ही होती है। या वे उससे भी खराब होते हैं। वे बाहरी दुनिया की एक डरावनी, अमूर्त और कुछ सरल बना डाली गई नकल मात्र हैं। स्कूल के बाहर की दुनिया में कम से कम कुछ काम तो ईमानदारी और बढ़िया तरीके से किया जाता है। और यह उस काम के लिए ही किया जाता है, दूसरों से आगे बढ़ जाने के लिए नहीं। वहाँ सभी जगह और हमेशा ही लोगों को दूसरों से स्पर्धा नहीं करनी पड़ती। वहाँ लोग (कम से कम अब तक) अपने जीवन के हर पल दूसरों की मनमानी, अपरिवर्तनीय आज्ञाओं या फैसलों को नहीं झेलते। पर अधिकांश स्कूलों में एक छात्र हर पल दूसरों की आज्ञानुसार काम करता है, उनके विवेक के अधीन होता है। और यह सब ऐसी स्थिति में जहाँ वह दूसरे छात्र-छात्राओं की कीमत पर ही जीत सकता है।

स्कूलों के विषय में यह राय कठोर और कड़ी है। पर मैं फिर से दोहरा रहा हूँ कि दरअसल स्कूल उसमें मौजूद लोगों से कहीं खराब होते हैं। और स्कूलों में काम करने वाले अधिकांश लोग तमाम ऐसे नुकसान पहुँचाने वाले काम करते हैं जिन्हें वे नुकसानदेह मानते तक नहीं। स्कूल की समग्रता उसके हिस्सों के योग से कहीं अधिक खराब है। संयुक्त राज्य अमरीका में (और शायद कहीं भी, किसी भी समय में) किसी भी दूसरे व्यवसाय में ऐसे लोग कम ही होंगे जिन्हें इतने भरोसे से दूसरों को नियंत्रित करने की इतनी ताकत सौंपी जाती हो जितनी स्कूलों में बच्चों के मामले में शिक्षकों को सौंपी जाती है। मुझे स्कूल आधुनिक समाज की सबसे अलोकतांत्रिक, तानाशाह, विनाशकारी और खतरनाक संस्थाएँ लगती हैं। कोई भी दूसरी संस्था इतना अधिक और इतना स्थाई नुकसान इतने सारे लोगों को नहीं पहुँचाती। वे बच्चों की जिज्ञासा, स्वतंत्रता, विश्वास, सम्मान, उनकी अस्मिता और स्वमूल्य को खत्म कर डालते हैं। सबसे दयालु स्कूल तक बच्चों और शिक्षकों के इस ज्ञान से भ्रष्ट हो जाते हैं कि वे दूसरों के फैसले और अनुमोदन के लिए प्रदर्शन कर रहे हैं - बच्चे शिक्षकों के लिए, शिक्षक माता-पिता, निरीक्षकों, स्कूल संचालन समिति या राज्य के लिए

प्रदर्शन करते हैं। कोई भी इस भाव से कभी मुक्त नहीं हो पाता कि उसका लगातार मूल्यांकन किया जा रहा है, या जल्दी ही मूल्यांकन किया जाएगा। कक्षा में श्रेष्ठतम अनुभव के बावजूद शिक्षकों को स्वयं से पूछना पड़ता है, “क्या यह करके मैंने ठीक किया? क्या हम सिद्ध कर सकते हैं कि हम सही थे? क्या इससे हम परेशानी में फँसेंगे?”

स्कूलों को जो चीज़ भ्रष्ट करती है और जो उन्हें उनसे जुड़े लोगों से भी अधिक खराब बनाती है, या जो उन्हें इतना खराब बनाती है जितना खराब ये लोग बनना नहीं चाहते - वह है उनकी सत्ता। ठीक उसी तरह जिस तरह छात्रों की सत्ताहीनता उन्हें भ्रष्ट करती है। स्कूल भ्रष्ट इसलिए होते हैं क्योंकि माता-पिता लगातार यह जानना चाहते हैं कि उनका बच्चा ठीक काम कर रहा है या नहीं। अर्थात् वह दूसरे बच्चों से आगे है या नहीं। और माता-पिता की यह माँग भी रहती है कि वह दूसरों से आगे बना रहे। स्कूल बच्चों को बाहरी दुनिया की खराबियों से सुरक्षित नहीं रखते। वे तो खुद ही कम से कम उतने खराब तो होते ही हैं जितनी बाहरी दुनिया है। उनके नियंत्रण के तहत जितने बच्चे होते हैं उन्हें स्कूल इतना नुकसान पहुँचाते हैं कि उससे ही बाहरी दुनिया में खराबी पैदा होती है। आधुनिक दुनिया का रोग कई अर्थों में स्कूल जनित रोग है। स्कूल में ही अधिकांश लोग यह उम्मीद करना, यह स्वीकारना सीखते हैं कि कोई विशेषज्ञ उन्हें हमेशा किसी श्रेणी, किसी स्तर पर रख सकता है। स्कूल में हम पूर्णतः नियंत्रित समाज से परिचित होते हैं, उसका आदी होना और उसमें विश्वास करना सीखते हैं। हम अधिक विज्ञान नहीं सीखते पर “वैज्ञानिक” को पूजना सीखते हैं। और यह विश्वास करना सीखते हैं कि भविष्य में हमें जिस किसी भी चीज़ की ज़रूरत या इच्छा होगी वह किसी दिन हमें उनसे ही मिलेगा। हक्सले ने जिस *ब्रेव न्यू वर्ल्ड* तथा उसके अल्फा, बीटा, डेल्टा तथा इप्सिलॉन की कल्पना की थी स्कूलों में ही हम उसके निकटतम पहुँच सके हैं। और स्कूलों में उसका सोमरस भी है। बच्चों समेत प्रत्येक व्यक्ति को उसे ठुकराने का, “ना!” कहने का अधिकार होना चाहिए।



25. नशीली दवाओं के उपयोग का अधिकार

नशीली दवाओं के सन्दर्भ में जो अधिकार वयस्कों के हैं, ठीक वे ही बच्चों को भी दिए जाने चाहिए। अगर कोई बच्चा एक आश्रित के रूप में अपने माता-पिता या अभिभावकों के घर में रहता है तो उसके लिए ज़िम्मेदार वयस्क ही इससे सम्बन्धित नियम बनाएँ। अगर माँ-बाप नहीं चाहते कि बच्चा घर में सिगरेट-बीड़ी पिए, तो उन्हें यह कहने का अधिकार है। बल्कि घर के बाहर भी उन्हें धूम्रपान वर्जित करने का अधिकार है। पर यह मामला *उनका* होना चाहिए। कानून या पुलिस को यह नियम लागू करने का अधिकार न हो। माता-पिता और वयस्क जो नशीली दवाओं के बारे में नियम बनाना चाहते हैं उन्हें उन नियमों को लागू करने के लिए अपनी प्राकृतिक सत्ता का ही उपयोग करना होगा।

मेरा मानना है कि नशीली दवाओं का उपयोग करना चाहने वालों को ऐसा करने देना चाहिए। दवाएँ बेचने वालों को कानून बाध्य करे कि वे अपनी दवाओं में मौजूद रसायन की घोषणा करें। बताएँ कि जो रसायन हैं उनके निकट व दूरगामी प्रभाव क्या हो सकते हैं। कम से कम जितना उन्हें पता है उसे सार्वजनिक करें। संक्षेप में, आज तम्बाकू विक्रेता हर पैकेट पर जो “धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो सकता है” की इबारत लिखते हैं, वह नाकाफी है। उन्हें साफ-साफ लिखना चाहिए कि एक अर्से तक तम्बाकू सेवन से हृदयाघात, वातस्फीति (एम्फीसीमा), मुँह, गले और फेफड़ों का कैंसर हो सकता है। शायद यह भी कि निकोटीन केवल धीमा ज़हर ही नहीं है, बल्कि वह लत डालने वाला नशा है, जिसे लेना बन्द करने पर लोगों को भारी तकलीफ होती है। यह बात मारियुआना, कॉफी, शराब, नींद की गोलियों, उत्साह और ऊर्जा पैदा करने वाली गोलियों और ऐसी तमाम अन्य दवाओं के बारे में भी कही जानी चाहिए। जो भी दवा व्यापारिक रूप से बाज़ार में, डॉक्टर की पर्ची के मार्फत या उसके बिना बेची जाए, उसके गुणों, दुष्प्रभावों और खतरों का उल्लेख किसी निर्देशिका में होना चाहिए। यह आम जनता के लिए उपलब्ध भी हो। शायद इसे आवश्यक भी बनाया जा सकता है कि यह निर्देशिका हर दुकान में ग्राहकों को दिखाने के लिए उपलब्ध हो। ज़ाहिर है कि कुछ दवाओं के बारे में मतभेद होगा - जैसा विटामिन “सी” या “ई” आदि को लेकर है। ऐसे

में उसके अच्छे और बुरे प्रभावों की जानकारी को सम्भावित ग्राहकों को देने के उपाय करने चाहिए ताकि वे इस बारे में निर्णय ले सकें। कई लोगों को लगता है कि विटामिन “सी” की वजह से उन्हें बार-बार जुकाम नहीं होता। उन्हें यह नहीं कहा जाना चाहिए कि क्योंकि इससे हरेक को मदद नहीं मिल पाती है, उन्हें भी इसका उपयोग नहीं करना चाहिए।

लोग जो दवाएँ चाहें उनका उपयोग कर पाएँ, ऐसी अनुमति देने के प्रस्ताव का घोर विरोध होगा। विरोधी कहेंगे कि इस छूट से उस “नशीली दवाओं की संस्कृति” को प्रोत्साहन मिलेगा जो उन्हें पसन्द नहीं और जिसे वे नौजवानों, अल्पसंख्यकों और समाज से बाहर जी रहे, जात बाहर कर दिए गए समूहों से जोड़ते हैं। पर उनकी एक बात तो सच्ची है। हमारी संस्कृति सच में “नशीली दवाओं की संस्कृति है।”

पर यह कोई नई बात नहीं है और इसका नौजवानों के साथ कोई गहरा ताल्लुक भी नहीं है। नौजवानों में नशीले पदार्थों का प्रचलन बढ़ने के बहुत पहले से ही हम एक “नशीली दवाओं की संस्कृति” थे। अधिकांश वयस्क तीन मनोसक्रिय (साइकोएक्टिव) दवाओं का नियमित और भारी मात्रा में सेवन करते रहे हैं - कॉफी, तम्बाकू और शराब। ये तीनों ही बड़े सशक्त पदार्थ हैं। सभी की कमोबेश लत भी पड़ती है। और यह केवल मानसिक लत नहीं होती, बल्कि अधिक गम्भीर होती है। सबके दुष्परिणाम भी होते हैं और सभी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं - उन तमाम दवाओं से भी अधिक हानिकारक जो कानूनन वर्जित कर दी गई हैं।

इस सूची में हम एक चौथा रसायन भी जोड़ सकते हैं - चीनी। अगर इसे पूरी तरह लत डालने वाला पदार्थ न भी कहा जाए तो भी इसकी मानसिक लत तो ज़रूर पड़ती है। बच्चों समेत हमारी अधिकांश आबादी घोर रूप से इसकी आदी हो चुकी है। 23 अगस्त 1973 के न्यू साइंटिस्ट के अंक में छपे ड्रग्स एण्ड पब्लिक मॉरेलिटी नामक आलेख में डॉक्टर हेनरी मिलर की पुस्तक मेडिसिन एण्ड सोसाइटी (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) के कुछ अंश छपे थे। उसमें यह भी कहा गया था:

“ड्रग” शब्द का उपयोग मात्र भावोत्तेजक है और प्रश्न उठाता है। शराब और तम्बाकू वे सबसे महत्वपूर्ण और खतरनाक दवाएँ हैं जिनका उपयोग पश्चिमी दुनिया में किया जाता है। पर नशैड़ियों की समस्या पर चर्चा करने वाले पत्रकार का तात्पर्य इनसे नहीं होता। मनोसक्रिय पदार्थों का उपयोग उतना ही पुराना है जितना मानव का दर्ज किया गया इतिहास। कोई ऐसा समय और स्थान

नहीं जहाँ उनका उपयोग न किया गया हो, और जब उनमें से कुछ को पूर्णतः स्वीकार्य, तो कुछ के उपयोग को अपराध न माना गया हो।

उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में अफीम का किसी न किसी रूप में उपयोग करने का प्रचलन था। खासकर गरीब और दुखियारी जनता में। आधुनिक औषध साहित्य भी यह बताता है कि वह व्यक्ति के आचरण पर अपने प्रभाव में शराब से बेहतर है। यही नज़रिया भारत के स्थानीय शासकों का भी था जो अपने इलाकों में विदेशी शराब के बदले अफीम के सेवन के पक्षधर थे। ठीक यही बात चरस और गांजा के विषय में भी लागू होती है। भारतीय गांजा आयोग, 1894, की टिप्पणी थी कि इस नशीले पदार्थ के सेवन का गम्भीर दुष्परिणाम नहीं होता। जो होता है वह भी इसके सेवन करने वाले तक सीमित रहता है और समाज पर इसका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता। [पृष्ठ 442]

डॉ. जेम्स विलिस ने अपनी ताज़ा पुस्तक *एडिक्ट्स* में कहा है कि भारत में बहुत ज़्यादा मीठी या चटपटी चीज़ें खाना पसन्द करने वाले लोगों को एक तरह की लत वाला माना जाता है। इस “लत” को वे चटोरापन कहते हैं। ऐसे पुरुषों को चटोरा और महिलाओं को चटोरी। परम्परागत या सम्मानीय लोग मिठाई पसन्दगी की इस लत को नैतिकता के नज़रिए से देखते हैं। अतः विलिस लिखते हैं:

...चटोरेपन के शिकार लोगों को समाज निकम्मा और अपरिपक्व मानता है। धारणा यह भी है कि ऐसे लोग यौनिक रूप से उच्छृंखल होते हैं। लेखक ने सूचना देने वाले लोगों से साक्षात्कार किया। इन लोगों ने बेतहाशा मिठाई खाने वाले पड़ौसियों का ऐसे लोगों के रूप में वर्णन किया जो सामाजिक व नैतिक पतन की प्रक्रिया में प्रवेश कर चुके हों और अधिक पैसों के लिए बेईमानी, चोरी या दूसरे तरीके अपनाते हों। अन्य सूचनादाताओं ने बताया कि कई चटोरे अपराध करते हैं और कई बार बन्दी बनाए जाते हैं...। माना जाता है कि उनका अति *आत्मपरितोष* [इटैलिक्स मेरी ओर से विशेष ध्यान के लिए] ही उन्हें व्यक्तिगत, नैतिक और सामाजिक पतन की ओर ले जाता है। [पृष्ठ 40]

मीठे के अलावा कई वयस्क दूसरे तरह की बहुत-सी नशीली दवाओं का भी उपयोग करते हैं। लाखों लोग एस्परीन, शान्त करने की गोलियों, उत्साह

जगाने वाली गोलियों, पतले होने की गोलियों, नींद की गोलियों का निरन्तर उपयोग करते हैं। ब्रूस जैकसन का एक लेख “व्हाइट कॉलर पिल पार्टी” कुछ सालों पहले *एटलाण्टिक* पत्रिका में छपा था। उसमें लिखा था कि शिकागो के एक सम्पन्न इलाके के कई अमीर और सफल लोग ऐसी उत्तेजक और शान्त करने वाली दवाओं को लगातार लेते हैं जो सामान्यतः चिकित्सक की पर्ची होने पर ही प्राप्त हो सकती हैं। इन लोगों द्वारा ऐसी दवाओं का सेवन चिकित्सकों द्वारा बताई गई मात्रा से दस से बीस गुना अधिक होता है। ये तमाम दवाएँ उन्हें उनके चिकित्सक ही लिखकर देते हैं। हाल ही में *न्यू यॉर्क* पत्रिका व अन्य प्रकाशनों में, जिसमें *द न्यू यॉर्क टाइम्स* भी शामिल है, ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं जिनमें “मस्त रहो” (फील गुड) चिकित्सकों का ज़िक्र है, ऐसे चिकित्सक जो मोटे शुल्क के एवज़ में अपने पास आने वाले मरीज़ों को ढेरों विटामिन और एम्फेटामाइन से भरने को तैयार रहते हैं। इसे युवावर्ग “स्पीड” कहता है। कई प्रसिद्ध व सत्तावान लोग कई बार ऐसे इंजेक्शन लगवाते हैं। इसके अलावा विज्ञापनों और चिकित्सकों द्वारा प्रोत्साहित की जा रही यह भावना भी प्रचलित है कि स्वस्थ रहने के लिए एक अदद चिकित्सक की दरकार है जो आपको यह बता देगा कि गड़बड़ क्या है, और उसे ठीक करने के लिए गोली भी लिख देगा।

बाल-नशेड़ियों का अध्ययन करने वालों ने पाया है कि इनमें से कइयों ने दवाओं के साथ अपने पहले प्रयोग माता-पिता की अलमारियों में मिली दवाओं से किए थे। कुछ समय पूर्व मैंने एक उपनगरीय कस्बे के बारे में पढ़ा था जहाँ बच्चों को गोल्डफिश नाम के एक नए खेल का शौक चर्चाया था। वे अपनी पार्टी या समूह में अपने माँ-बाप की अलमारी से चुराई मुट्ठी भर दवाओं के साथ पहुँचते। सारी गोलियाँ एक बर्तन में डालकर मिला ली जातीं। इसके बाद हरेक उस पात्र में से बिना देखे पाँच-छह गोलियाँ निकालता और निगल लेता। फिर इसका असर देखा जाता। यह विचार कि दवाओं के सहारे कई तरह की अनूठी और आनन्ददाई भावनाएँ जगती हैं, न तो नया है, न इसे बच्चों या किशोरों ने जन्म दिया है।

जो लोग यह कहते हैं कि बच्चों को धूम्रपान या शराब का सेवन नहीं करने देना चाहिए, वे अक्सर यह भी कहते हैं कि ऐसा इसलिए करना चाहिए कि उनकी उम्र कम है और वे समझदार नहीं हुए हैं। क्या जो अधिक उम्र के हैं वे अधिक समझदार हैं? क्या उन्होंने धूम्रपान बन्द कर दिया है? ना, ऐसा कुछ भी नहीं है। 5 नवम्बर 1973 में *न्यू यॉर्क टाइम्स* की एक खबर के अनुसार 1969 से प्रति वर्ष पी जाने वाली सिगरेटों की संख्या में और अठारह वर्ष से अधिक आयु के लोगों द्वारा प्रति व्यक्ति पी जाने वाली सिगरेटों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है। और तो और वृद्धि की दर भी बढ़ती जा रही है। 42 प्रतिशत वयस्क

पुरुष और 32 प्रतिशत वयस्क महिलाएँ सिगरेट पीती हैं। आलेख में बाकी लोगों द्वारा धूम्रपान की कोई दर नहीं बताई गई है। अगर समस्या यह है कि लोग नशीले पदार्थों के सेवन से होने वाली हानि को नहीं जानते तो हम उन्हें यह कच्ची उम्र में ही आसानी से बता सकते हैं। यद्यपि कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध करे कि बच्चों को दवाओं के खतरे से सावधान करने से वे उनका उपयोग करना बन्द कर देंगे। स्कूलों में चल रहे नशीले पदार्थों के शिक्षा कार्यक्रमों की रिपोर्टों (जिनमें तम्बाकू, शराब और कॉफी की कोई चर्चा तक नहीं होती) और बच्चों व किशोरों पर इन कार्यक्रमों के प्रभाव से पता चलता है कि अब्बल तो युवा वर्ग उन बातों पर ही विश्वास नहीं करता जो वयस्क उन्हें बताते हैं। दूसरे, जिन बातों पर उन्हें विश्वास होता भी है, वे नशीले पदार्थों के बारे में उनकी जिज्ञासा को और उकसाती हैं। उनमें उन्हें इस्तेमाल करने की इच्छा जगाती हैं। शायद इसी सिद्धान्त के आधार पर कि अगर माता-पिता और शिक्षक सभी इसकी इतनी बुराई करते हैं तो जरूर वे इतनी खराब भी नहीं होंगी। एक लेखक ने तो लिखा था कि बच्चे और किशोर नशीली दवाओं के खतरों को खूब जानते हैं, *इसीलिए तो वे उनका उपयोग करते हैं।* न्यू यॉर्क समेत कई राज्यों में यह नियम है कि स्कूलों में छात्र-छात्राओं को शराब के खतरों से अवगत करवाया जाए। क्या इन राज्यों के निवासी उन दूसरे लोगों से कम शराब पीते हैं जहाँ ऐसे कार्यक्रम नहीं चलते, और उन तमाम विधायकों का क्या जो ऐसे कार्यक्रम बनाते हैं? बिलाशक उनमें से अधिकांश विधायक जमकर पीते हैं।

बहरहाल क्योंकि तमाम लोग तथाकथित रूप से शराब, तम्बाकू, कॉफी, चीनी, नींद की गोलियों तथा स्फूर्ति देने वाली गोलियों के दुष्प्रभावों के बारे में जानते हैं और फिर भी साल दर साल उनका अधिकाधिक उपयोग करते हैं, इसलिए यह मानने का क्या कारण है कि बच्चों और किशोरों के लिए उनका उपयोग तब तक वर्जित किया जाए जब तक वे “समझने लायक उम्र” के न हो जाएँ? कुछ के लिए लोग कह सकते हैं कि नाबालिग नशीली दवाओं के उपयोग में वयस्कों से भी खराब चुनाव करेंगे। पर वयस्कों द्वारा उनका उपयोग करने से अधिक खराब विकल्प भला और क्या होगा? कुछ कहेंगे कि इनका दुष्प्रभाव वयस्कों की तुलना में बच्चों पर अधिक खराब होगा - उनकी बढ़त रुक जाएगी, उनके हृदय का नाश हो जाएगा। अगर यह सच है तो इन दवाओं के निर्माताओं और वितरकों को यह जानकारी बच्चों समेत सबको देनी चाहिए।

बहरहाल यह मानने का कोई कारण ही नहीं है कि बच्चों को यह कहने से कि अभी नहीं, तुम बड़े होने पर धूम्रपान कर सकते हो, उनकी धूम्रपान की इच्छा पर अब या बाद में अंकुश लग सकेगा। किसी को पहली बार धूम्रपान अच्छा

नहीं लगता, या दूसरी, तीसरी या दसवीं बार। उसका स्वाद खराब होता है और संवेदन (अगर आप बिना खॉंसे या दम घुटाए, धुआँ अन्दर ले पाएँ तो) तेज़ और असुखद। धूम्रपान के बाद मुँह का स्वाद भी कड़ुवा हो जाता है। इसकी आदत डालने के लिए दृढ़ता की ज़रूरत पड़ती है। बच्चे या किशोर क्यों अड़े रहते हैं? इसलिए, क्योंकि यह एक ऐसी दुनिया में वयस्क होने की निशानी है जिसमें वयस्कता की बहुत कम निशानियाँ उपलब्ध हैं। और फिर वे तमाम वयस्कों को ऐसा करते देखते हैं। अतः उनकी अपनी इन्द्रियाँ धूम्रपान के बारे में जो कुछ कहें, उसके बावजूद वे सोचते हैं कि साग्रह जुटे रहने पर कभी न कभी तो उन्हें इसकी रहस्यमय अच्छाई समझ आ ही जाएगी। बड़ों की तरह, कुछ समय बाद उन्हें भी इसकी लत पड़ जाती है। पर छोटे बच्चे अपनी इन्द्रियों पर अधिक भरोसा करते हैं। जब किसी चीज़ का स्वाद उन्हें अच्छा नहीं लगता, वे उसका उपयोग लगातार करते नहीं जाते। वे मना करते हैं। अगर हम सच में चाहते हैं कि बच्चे धूम्रपान न करें, तो शायद हमें धूम्रपान को ठीक उसी नज़रिए से देखना चाहिए जिससे हम पढ़ाई को देखते हैं। अर्थात् हमें हर बच्चे को स्कूल में एक या दो सिगरेट पिलानी चाहिए। और जो न पिए या न पी पाए, या *मना करे*, उसका अपमान करना चाहिए, उन्हें सज़ा देनी चाहिए।

आज कई बच्चे कानून द्वारा अनुमति पाने से काफी पहले से ही धूम्रपान करते हैं (केवल सिगरेट ही नहीं, मारियुआना भी), शराब पीते हैं और वह भी सिर्फ घर में नहीं। ज़्यादातर बच्चे बारह साल की उम्र के पहले ही तम्बाकू पी चुके होते हैं (शायद मारियुआना भी), और कुछ तो नियमित रूप से पीते हैं। ज़्यादातर बच्चे इस उम्र तक शराब भी चख चुके होते हैं। और कई, शायद अधिकांश, चौदह-पन्द्रह साल के पहले धुत होने का अनुभव भी ले चुके होते हैं। अगर उन्हें अनुमति होती तो शायद वे इससे भी ज़्यादा धूम्रपान करते या शराब पीते। फिर भी यह इन्हें वर्जित करने का अच्छा या पर्याप्त कारण नहीं है। मेरा निजी विश्वास यह है कि बच्चे व किशोर इसलिए धूम्रपान करते हैं या शराब पीते हैं क्योंकि वे एक ऐसे समाज में बड़े *नज़र आना* चाहते हैं जहाँ बड़े *हो जाने* का कोई वास्तविक या गम्भीर तरीका है ही नहीं। या फिर वे ऐसा आचरण अपने हमउम्र साथियों के दबाव में करते हैं ताकि वे सिद्ध कर सकें कि वे भी बड़े साहसी हैं। यह भी इसलिए क्योंकि हमारे समाज में साहसिकता को सिद्ध करने का कोई गम्भीर और प्रामाणिक तरीका नहीं है। या फिर वे अपने कृत्यों से वयस्कों को दिखाना या डराना चाहते हैं। ऐसे में उनका सिद्धान्त रहता है, “उनमें मिल न सको तो उन्हें भाड़ में जाने दो!”

अगर छोटे अपने हमउम्र साथियों के सामाजिक दबाव में इतनी आसानी से आ

जाते हैं तो शायद यह इसलिए भी होता है क्योंकि वे किसी दूसरे समूह का हिस्सा बन ही नहीं सकते। उन्हें दूसरों से मिलने का न तो अवसर मिलता है, न अनुमति ही होती है। जब वे वयस्कों से मिलते हैं तो वे महज़ बच्चों, अधीनस्थ लोगों या उनसे हीन लोगों के रूप में ही मिलते हैं, जिनके पास न तो ज्ञान है, न आत्मसम्मान, न अधिकार, और न ही जिनका कोई मूल्य है। ऐसे लोगों से उनका कोई सम्पर्क ही नहीं होता जो हमउम्र साथियों के दबाव का प्रतिकार एक बेहतर उदाहरण द्वारा कर सकें। वे ऐसे वयस्कों से बिरले ही मिलते हैं जिन्हें वे अपनी बेवकूफी या विनाशकारी व्यवहार से निराश या दुखी नहीं करना चाहते हों। ऐसे सौभाग्यशाली बच्चे बिरले ही हैं जो एक भी ऐसे वयस्क को जानते हों जिसे वे पसन्द करते हों, जिस पर भरोसा करते हों या जिसका इतना सम्मान करते हों कि अपने बारे में उसकी अच्छी राय को बनाए रखना चाहते हों।

छुटपन में शराब पीते वक्त मैं लगभग हमेशा ही जानबूझकर ज़्यादा पीता था। ऐसा मैं केवल स्पर्धात्मक सामाजिक परिस्थितियों में ही करता - दावतों, नृत्य समारोह आदि में। वहाँ मैं स्वयं को बेहद असहज पाता और दूसरों में नज़र आने वाले आत्मविश्वास (परन्तु जो दरअसल होता नहीं था) को जगाने के लिए पीता था। पर समस्या तो उन सामाजिक समारोहों और स्पर्धा की थी। ऐसे समाजों में जहाँ बच्चों के प्रति अधिक सम्मान हो, ऐसे अवसर भी अधिक होंगे जिनमें विभिन्न आयु के लोग एक दूसरे से मिलें, जहाँ व्यक्ति की “हैसियत” इतनी महत्वपूर्ण नहीं होगी, और जहाँ बड़ी उम्र के अधिक अनुभवी और दयालु लोग, वहाँ लोग व्यापक समाज में बच्चों के प्रवेश को अधिक आसान बना सकेंगे। जब मैं छोटा था तो उन समारोहों में ही स्वयं को अधिक सहज पाता था जहाँ अधिकांश लोग बड़े होते थे और मुझे अपनी लोकप्रियता की फिक्र नहीं करनी पड़ती थी।

जिन परिवारों में शराब को एक रहस्यमय और वर्जित वस्तु नहीं बनाया जाता, उनमें बच्चों का शराब के प्रति नज़रिया भी अधिक समझदारी भरा होता है। ऐसे परिवारों में ख़ूब छोटे बच्चों को भी उसका स्वाद चख लेने दिया जाता है जो वयस्क पी रहे हों। पाँच साल की उम्र तक उन्हें ऐसा करना अच्छा ही लगता है। पर उसके बाद वे इसे नापसन्द करने लगते हैं, और काफी बड़े हो जाने तक फिर से उसमें रुचि नहीं लेते। खास मौकों पर उन्हें थोड़ी वाइन या शैम्पेन पीने की छूट मिलती है। बारह के हो जाने पर उन्हें माता-पिता या मेहमानों के साथ एक गिलास बीयर भी थमा दी जा सकती है। ऐसे बच्चे अमूमन यह भ्रान्ति नहीं पालते कि दारू पीने से बड़े होने का करिश्माई सबूत दिया जा सकता है। शराब उनमें शायद तीव्र इच्छा भी नहीं जगाती। और शायद वे यह भी जानते

हैं कि शराब का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है और इसी कारण इसके उपयोग में अधिक समझदारी बरतते हैं।

संक्षेप में, मुझे नहीं लगता कि हमें बच्चों को उन नशीले पदार्थों से “बचाने” की ज़रूरत है जिनका उपयोग उनके बड़े-बुजुर्ग करते हैं। जिस समाज में अधिकांश लोग किसी न किसी तरह का नशा करते हैं, और कुछ तो अत्यधिक और अविवेकपूर्ण नशा करते हैं, हम बच्चों को उनसे “बचा” भी कैसे सकते हैं? कुछ साल पहले फ्रांस में एक बड़ा-भारी हंगामा खड़ा हुआ। शोधकर्ताओं ने पाया कि देश के कुछ हिस्सों में कई बच्चे दस साल की आयु के भी पहले नशेड़ी बन जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण बड़ा सीधा-सा था। उन इलाकों में वयस्क सिर्फ शराब ही पीते थे – वाइन, साइडर और ब्रांडी। बच्चे सक्रिय होते हैं। उन्हें प्यास भी लगती है। उन्हें पीने को ढेर-सा चाहिए होता है। अगर पीने को शराब के अलावा कुछ हो ही नहीं तो वे नशेड़ी ही बनते हैं। इसका सबसे अच्छा और एकमात्र उपाय है पीने की दूसरी चीज़ें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करवाना। इसके अलावा जो हम कर सकते हैं वह है : (1) जिसका उपयोग वे कर रहे हैं, उसकी पूरी सूचना उपलब्ध करवाना; (2) ऐसे वयस्कों के उदाहरण प्रस्तुत करना जो नशेबाज़ न हों; (3) एक ऐसा समाज रचना जहाँ वयस्कता सिद्ध करने के लिए शराबखोरी से बेहतर तरीके मौजूद हों; (4) ऐसा समाज रचना जो इतना उबाऊ, निरर्थक, आशाहीन या भयावह न हो कि लोगों को उससे बचने के लिए नशे का सहारा लेना पड़े।

हमारे स्कूल भी बच्चों में नशीले पदार्थों के उपयोग का प्रसार करने में अक्सर मददगार रहे हैं। अंशतः इसलिए कि वे बच्चों के लिए एक दूसरे से मिलने का स्थान, अतः आपूर्ति के केन्द्र भी हैं। इस अर्थ में स्कूलों ने कोने वाली दवा-दुकान की जगह ले ली है : वे अब नशीली दवाओं के अड्डे बन चुके हैं। साथ ही वे ऐसे स्थान भी हैं जहाँ बच्चे एक दूसरे से नशीली वस्तुओं के सेवन के निजी अनुभवों की चर्चा करते हैं। उससे हुई संवेदनाओं और प्रभावों की तुलना करते हैं। साथ ही स्कूलों की तुच्छ, स्वयं को बेहतर सिद्ध करने वाली स्पर्धात्मकता फैलकर नशीले पदार्थों की दुनिया में भी लागू हो जाती है। जिन बच्चों को अध्ययन में स्पर्धा करना सिखाया जाता है, एक दूसरे की कीमत पर जीतना सिखाया जाता है, वही बच्चे नशा करने और इस या उस पदार्थ के उपयोग में स्पर्धा करने पर उतर आते हैं। ताकि वे सिद्ध कर सकें कि वे दूसरों की तुलना में अधिक साहसी और प्रयोगशील हैं। स्कूली गतिविधियाँ भी अक्सर बहुत उबाऊ, चिन्ता पैदा करने वाली, बदशक्ल और सज़ाओं से भरी होती हैं। कई बच्चे कहते हैं कि वे स्कूल भवनों में ही नशा करते हैं ताकि उनका दिन किसी तरह कट सके। इस अर्थ में स्कूल काफी कुछ एक कारखाने जैसा ही

नीरस होता है, जहाँ नशीले पदार्थों का उपयोग क्रमशः बढ़ता जा रहा है। हमारे देश में कुछ समय तक हेरोइन तक का उपयोग कानूनी था। डॉ. थॉमस त्सैज़ ने यह कई बार कहा है। कई सम्मानजनक व्यक्ति इसका उपयोग करते थे और उनमें से कई के जीवन काफी सामान्य और उत्पादक भी रहे थे। यह कहना सच नहीं है, या आवश्यक रूप से हमेशा सच नहीं है, कि हेरोइन का उपयोग लोगों को सामान्य स्थितियों में कार्य नहीं करने देता। आज भी हेरोइन के कई नशेड़ी नौकरियाँ करते हैं। जब तक वे इस तथ्य को गुप्त रख सकते हैं तब तक काम करते रहते हैं। पर जब यह बात उजागर हो जाती है तो उन्हें निकाल दिया जाता है और तब यह सच में एक सामाजिक समस्या पैदा करती है। न ही यह सच है कि हेरोइन अपने आप में, आवश्यक रूप से एक जीवननाशक दवा है, जैसा अधिकारी तथा प्रेस हमें बताते हैं। एक शोधकर्ता और चिकित्सक ने हाल ही में लिखा था कि उन्होंने अपने तात्कालिक और दूरगामी प्रभावों में शुद्ध हेरोइन को सबसे कम नुकसानदेह नशीले पदार्थों में से एक पाया है! जीवननाशी है हेरोइन के उपयोग की जीवन शैली - हेरोइन पाने की दिक्कतें, उस पर लुटाई जाने वाली कीमत। यह सब तथा यह तथ्य कि अक्सर हेरोइन इस कदर अशुद्ध और मिश्रित रूप में ली जाती है कि वह खतरनाक बन उठती है। अतः कई मौतें, जिनके बारे में कहा जाता है कि वे हेरोइन के अत्यधिक उपयोग के कारण हुई हैं, वास्तव में क्विनीन या दूसरे प्रकार के जहर से होती हैं। शुद्ध हेरोइन से खुद को मारना हो तो जितनी मात्रा की ज़रूरत होगी उसकी कीमत कोई नशेड़ी झेल नहीं सकता। अपने आप में हेरोइन शायद उतनी हानिकारक नहीं जितने हानिकारक तम्बाकू या शराब होते हैं। पर वह उसके सेवन करने वालों को तत्काल और सस्ता आनन्द उपलब्ध करवाती थी। हमारे जैसे अतिनैतिक देश में यह अपने आप में एक खराब बात थी। साथ ही यह दवा सेवन करने वालों को महत्वाकांक्षी और निष्क्रिय भी बनाती थी। यह सबको और भी खराब लगता था। जिस बात से लोगों को गुस्सा आता था वह यह विश्वास था कि हेरोइन (या मारियुआना) लेने वाले लोग काम करना ही नहीं चाहते। सो जनता को यह विचार बेचा गया कि हेरोइन भयानक रूप से खतरनाक है और तब उसे गैरकानूनी घोषित करने के नियम बनाए गए। इससे हेरोइन नियंत्रक उद्योग जन्मा जो अब एक बड़ा भारी धन्धा है। और जन्मा हेरोइन आपूर्ति उद्योग, जो और भी बड़ा व्यापार है। (ये दोनों व्यापार कई स्तरों पर परस्पर जुड़े हुए भी हैं। पर यह मानने का खास कारण नज़र नहीं आता कि हेरोइन उपयोग प्रारम्भ में एक महत्वपूर्ण स्वास्थ्य समस्या रही होगी। जिस वक्त हेरोइन का उपयोग वैध था तब भी अनुमानतः दो लाख लोग इसका आदतन उपयोग करते थे। इस आँकड़े की तुलना वर्तमान

में देश के नब्बे लाख शराबियों से करें, या उन पचास हज़ार लोगों से करें जो प्रतिवर्ष कार दुर्घटनाओं में मरते हैं या इससे भी अधिक जो उनमें घायल होते हैं।

बीच-बीच में कुछ हेरोइन विरोधी विशेषज्ञ या प्रशासक यह भी कहते हैं कि कुछ देशों में इस नशीली दवा को कानूनी घोषित करने का प्रयोग भी किया गया। पर वह “सफल” नहीं रहा। जब हम यह पूछते हैं कि “सफल नहीं रहा से क्या मतलब है? किन अर्थों में असफल रहा?” तो वे कहते हैं कि असफल इस तरह से कि लोग अब भी वहाँ इसका नशा करते हैं, शायद पहले से भी अधिक। इसे ही तर्क शास्त्र में “भ्रान्तिपूर्ण प्रश्न” कहते हैं। जब लोगों को हेरोइन के इस्तेमाल की छूट होगी तो कुछ लोग इसका उपयोग करेंगे ही, क्योंकि उन्हें यह पसन्द है। ठीक उसी तरह जैसे लोग कॉफी या तम्बाकू या शराब का उपयोग करते हैं। अगर कुछ लोग अपने शरीरतंत्र में तेज़, मनोसक्रिय व लत डालने वाली दवाएँ महज़ इसलिए ढूँढते हैं कि उन्हें वे पसन्द आती हैं, तो कुछ दूसरे लोग अन्य प्रकार की दवाएँ ठीक इसी कारण से क्यों नहीं लेंगे!*

हाल की रिपोर्टों से पता चलता है कि जैसे-जैसे हेरोइन अधिक महँगी, कठिनाई से उपलब्ध होने वाली और घटिया गुणवत्ता वाली होती जा रही है, अधिक से अधिक लोग दूसरी, अधिक आसानी से उपलब्ध दवाओं की ओर आकर्षित हो रहे हैं - नींद की गोलियाँ, शान्त करने वाली गोलियाँ, शामक गोलियाँ। इससे उपजने वाली स्वास्थ्य समस्या अधिक खतरनाक है। नींद की गोलियों में क्रमशः जमा होने वाला विष नहीं होता। शरीर अपनी सामान्य प्रक्रियाओं से उसे बाहर निकाल देता है। अधिक मात्रा में उन्हें ले लेने पर व्यक्ति को खतरे से बाहर लाने के लिए केवल आगामी आठ घण्टों तक जीवित और जगाए रखना पड़ता है। पर यह प्रशांक, शामक व सम्मोहक दवाओं के बारे में सच नहीं है जो शरीर में बनी रहती हैं। उन्हें अधिक मात्रा में लेने के बाद अगर व्यक्ति ज़िन्दा रह भी जाता है तो उसे दो सप्ताहों से भी अधिक सघन देखभाल में रहना पड़ता है।

अक्सर यह अनुमान लगाया जाता है कि उत्तेजक व शामक दवाओं का लगभग दो-तिहाई कानूनी उत्पादन आज काला बाज़ारों तक पहुँच रहा है। इससे उनके उपयोग को “नियंत्रित” करना लगभग असम्भव बन चुका है। ये “कानूनी”

* *द न्यूयॉर्कर* के 24 सितम्बर और 1 अक्टूबर 1973 के रिपोर्टर एट लार्ज परिशिष्ट में होरेस फ्री लैण्ड जडसन का एक आलेख “द ब्रिटिश एण्ड हेरोइन” छपा था। हेरोइन से निपटने के ब्रिटिश और अमरीकी तरीकों की तुलना करने वाला एक बढ़िया और सम्भवतः सबसे ताज़ा और संतुलित लेख।

दवाएँ न केवल भारी मात्रा में उपलब्ध हैं बल्कि उन्हें तरह-तरह से मिश्रित करने की असीम सम्भावनाएँ भी हैं। ऐसा एक मिश्रण है नींद की दवाओं और शराब का, जो बेहद खतरनाक है। उनके अकेले के दुष्प्रभावों से कई गुना खतरनाक। यह भी सच है कि ऐसे नशीले पदार्थ बनाना बहुत कठिन भी नहीं है। रसायनशास्त्र का जिसे थोड़ा-बहुत भी ज्ञान हो वह ऐसे उपकरण बना सकता है जो उसके घर के किसी कमरे में आसानी से रखे जा सकते हैं। यह एल.एस.डी. के साथ किया जा सकता था। आज एल.एस.डी. की माँग घट चुकी है। कुछ तो इसलिए क्योंकि यह प्रदूषित और बदनाम हो चुकी थी और कुछ इसलिए कि दूसरी दवाएँ फैशन में आ गई हैं। पर अगर फैशन फिर बदले तो इसके असंख्य छोटे वितरक मिलेंगे। यह बात कई अन्य दवाओं पर भी लागू होती है। नशीली दवाओं के रोगियों के पुनर्वास में लगे लोगों में से एक भी नहीं मानता कि बड़ी दवा कम्पनियों के ज़रिए बाज़ार में आने वाली नशीली दवाओं के स्रोत कभी भी खत्म होंगे। ज़ाहिर है कि नशीली दवाओं के नियंत्रण के लिए जो प्रयास वितरण रोकने या उन्हें गैर-कानूनी घोषित करने के माध्यम से किए जा रहे हैं वे उतने ही असफल सिद्ध होंगे जितना नशाबन्दी अभियान सिद्ध हुआ था। इनका नतीजा भी वही रहा है - आपराधिक वितरण उद्योग की वृद्धि हुई है, नागरिकों के निजी जीवन में पुलिस की दखल बढ़ी है, पुलिस तथा कानून लागू करने वाले अधिकारियों में हिंसा और भ्रष्टाचार बढ़ा है।

हाल में *द न्यू यॉर्क टाइम्स* समेत कई प्रकाशनों में कुछ भयावह आलेखों में नारकोटिक्स एजेंटों के गैर-कानूनी, हिंसक और खूनी कृत्यों का वर्णन छपा था। इन अधिकारियों ने एक के बाद एक, तमाम प्रकरणों में वॉरन्ट या अदालती आदेश के बिना, और अक्सर बिना किसी सबूत या कारण के, केवल अपने निजी अन्दाज़ या अफवाह के आधार पर, बिना अपनी यूनिफॉर्म या पहचान पत्र के साथ, आधी रात को भी लोगों के घरों में धावा बोला। उन्हें डराया, धमकाया और कुछ दृष्टान्तों में उन लोगों को मार तक डाला जिन्होंने स्वाभाविक रूप से उनका विरोध किया था या भागने की कोशिश की थी। ऐसे हिंसक और गैर-कानूनी छापाओं के दौरान जब एजेंट किसी निर्दोष व्यक्ति को मार गिराते हैं (जैसा कैलीफोर्निया के हुम्बोल्ट काउण्टी में हुआ) तो भी उन्हें सज़ा नहीं होती। उक्त प्रकरण में सैन फ्रांसिस्को की एक अदालत ने यह फैसला सुनाया कि जिस व्यक्ति की हत्या की गई थी उसके किसी भी नागरिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं किया गया था। ऐसे में हम सिर्फ यही सवाल पूछ सकते हैं कि भेष बदले हुए पुलिस वाले, बिना प्रमाण या वारन्ट के, आपके घर पर बिना नागरिक अधिकारों का उल्लंघन किए सशस्त्र और अकारण हमला कर

सकते हैं, तो वे भला कौन-से नागरिक अधिकार हैं जो हमारे पास बचे रहते हैं? हमारे नशीले पदार्थ विरोधी कानून और उनके पीछे जो उन्माद है वही इस तरह की वैध हत्याओं को आमंत्रित करता है और हम ऐसी तमाम अन्य घटनाओं की उम्मीद कर सकते हैं।

एन्ड्रयू मैल्कम ने 19 अगस्त 1973 के रविवारीय *द न्यू यॉर्क टाइम्स* में “ड्रग रेड विक्टिम्स स्ट्राइव टु कंस्ट्रक्ट ए न्यू लाइफ” शीर्षक से एक खबर लिखी थी। इसमें एक ऐसी ही गैरकानूनी व हिंसक नशीली दवाओं के छापे के बाद जो घटा उसका उल्लेख था :

इलिनाॅए में कॉलिनसविले में रहने वाले एक दम्पति हर्बर्ट तथा इवेलिन गिग्लिओट्टो, जो अपने घर पर गैर कानूनी सरकारी छापे और उसके बाद *सताए जाने* [इटैलिक्स मेरी तरफ से, विशेष ध्यान के लिए] के कारण घर से भागने पर मजबूर हुए थे, अब अपना नया जीवन प्रारम्भ करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

...नशीली दवा दुरुपयोग कानून को लागू करने वाले संघीय कार्यालय के 15 एजेंट, बिना वॉरण्ट और बिना अपने वरिष्ठ अधिकारी की अनुमति के, उनके अपार्टमेंट में देर रात घुस आए। अश्लील गाली-गलौज के बाद उन्हें बन्दूक की नोक पर बिस्तर पर बैठाए रखा और उनके दो कमरों के अपार्टमेंट को तहस-नहस कर डाला। और तब जाकर उन्हें समझ आया कि वे गलत पते में घुस आए हैं। किसी प्रकार की नशीली दवा उस घर से बरामद नहीं हो सकी।

गिग्लिओट्टो दम्पति ने संघीय नशीली दवा निरोधक विभाग पर 10 लाख डॉलर का मुकदमा दायर किया...विभाग ने अपने छह नारकोटिक्स एजेंटों को नौकरी से बरखास्त करने की कार्यवाही शुरू की...

गिग्लिओट्टो दम्पति द्वारा इस छापे की शिकायत करने के बाद से देर रातों को अनाम फोन आने लगे। उनकी दोनों खड़ी गाड़ियों को तोड़-फोड़ डाला गया। श्री गिग्लिओट्टो के भाई की कार को भी नुकसान पहुँचाया गया। और हाल में इलिनाॅए निवासी उनकी माँ के घर में किसी ने जबरन घुसने की कोशिश की।

श्री गिग्लिओट्टो ने अपने नए किराए के मकान में बताया कि “हमने जुलाई के प्रारम्भ में तय किया कि हम शहर छोड़ देंगे।”

उन्होंने आग्रह किया कि उनका नया पता किसी को न बताया जाए।

“सम्भव है कि इन छापों को प्रकाश में लाकर हमने कुछ हासिल किया हो। पर हमारी ज़िन्दगियों को तो उन्होंने तबाह कर डाला है।” यह 31 वर्षीय श्री गिग्लिओट्टो का कथन था, जो इलिनाँए की अपनी नौकरी त्यागने के बाद कोई काम तक नहीं तलाश पा रहे हैं...।

यह एक आश्चर्यजनक घटना है। यह सिद्ध नहीं हो सका है पर इसे मानने के कई कारण हैं कि नशीली दवा निरोधक अधिकारी स्वयं या उनसे जुड़े लोग इस दम्पति को सताने पर आमादा थे। इससे परेशान हो उन्हें अपना शहर और नौकरियाँ त्यागनी पड़ीं। क्या हम इस हद तक पहुँच चुके हैं कि सरकारी अधिकारी एक बार हम पर आपराधिक हमला करने के बाद, हमारे द्वारा शिकायत करने पर हम पर फिर से हमला करेंगे? और जिस नागरिक ने सरकारी अधिकारियों की गैर-कानूनी हरकतों की शिकायत की उसे अपने बचाव में छुपते फिरना होगा जैसे कि वह अपराधी हो? सम्भव है कि यह कहानी पूरी भी नहीं हुई हो, पर फिलहाल उसकी यही स्थिति है।

बहरहाल वयस्कों द्वारा नशीली दवाओं के उपयोग को नियंत्रित करने के कानून का लाभ कम और नुकसान ही अधिक होगा। और ठीक यही असर ऐसे कानूनों का होगा जो बच्चों को वह सब करने से रोकते हैं जिसे करने की वयस्कों को छूट हो। अगर यह सच भी हो कि किसी नागरिक द्वारा नशीली दवाओं का उपयोग एक “समस्या” है, एक ऐसी खराब चीज़ है जो होनी नहीं चाहिए, तो भी इस “समस्या” का समाधान है एक ऐसे समाज, एक ऐसी दुनिया की रचना करना जिसमें नशाविहीन जीवन भी इतना रोचक, सुन्दर और सार्थक हो कि लोग नशे के बिना ही जीना चाहें। अगर अधिकांश लोग यह जानते होते कि शारीरिक रूप से पूर्णतः चुस्त-दुरुस्त रहना कितना अच्छा लगता है, और वे ऐसे स्थानों पर रहते जो उन्हें अच्छे लगते हों, और ऐसे काम करते जो उन्हें पसन्द आते हों, तो उन्हें नशा करने पर अधिक अच्छा लगने की बजाए अधिक बुरा ही लगता। पर अधिकांश लोग छह साल की उम्र के बाद से यह जानते ही नहीं कि पूरी तरह स्वस्थ, ऊर्जावान और दुनिया से जुड़े होने का अनुभव क्या होता है। यही वह स्थिति है जिसे एन्ड्रू वाइल अपनी पुस्तक *द नेचुरल माइंड* में “प्राकृतिक नशा” (ए नेचुरल हाई) कहते हैं। समस्या एक ऐसे समाज को रचने की है जो ऐसी जीवन शैलियों को प्रोत्साहित करे जिसमें वही स्वास्थ्य, ऊर्जा

और चेतनता ताउम्र बनी रहे जिसका अनुभव लोगों ने छह साल की उम्र में किया था।

परन्तु तब भी, किसी भी समाज में, चाहे वह कितना ही बढ़िया क्यों न हो, कई लोग होंगे जो किन्हीं खास अवसरों पर नशीली दवाओं का उपयोग करना चाहेंगे। सभी संस्कृतियों और मानव इतिहासों में इंसान उतना ही नशीले पदार्थों का उपयोग करने वाला रहा है जितना औज़ार इस्तेमाल करने वाला। शायद वह हमेशा ही ऐसा रहे।